जैन भारती

अगस्त 2012 • वर्ष 60 • अंक 8 • वार्षिक रु. 200.00

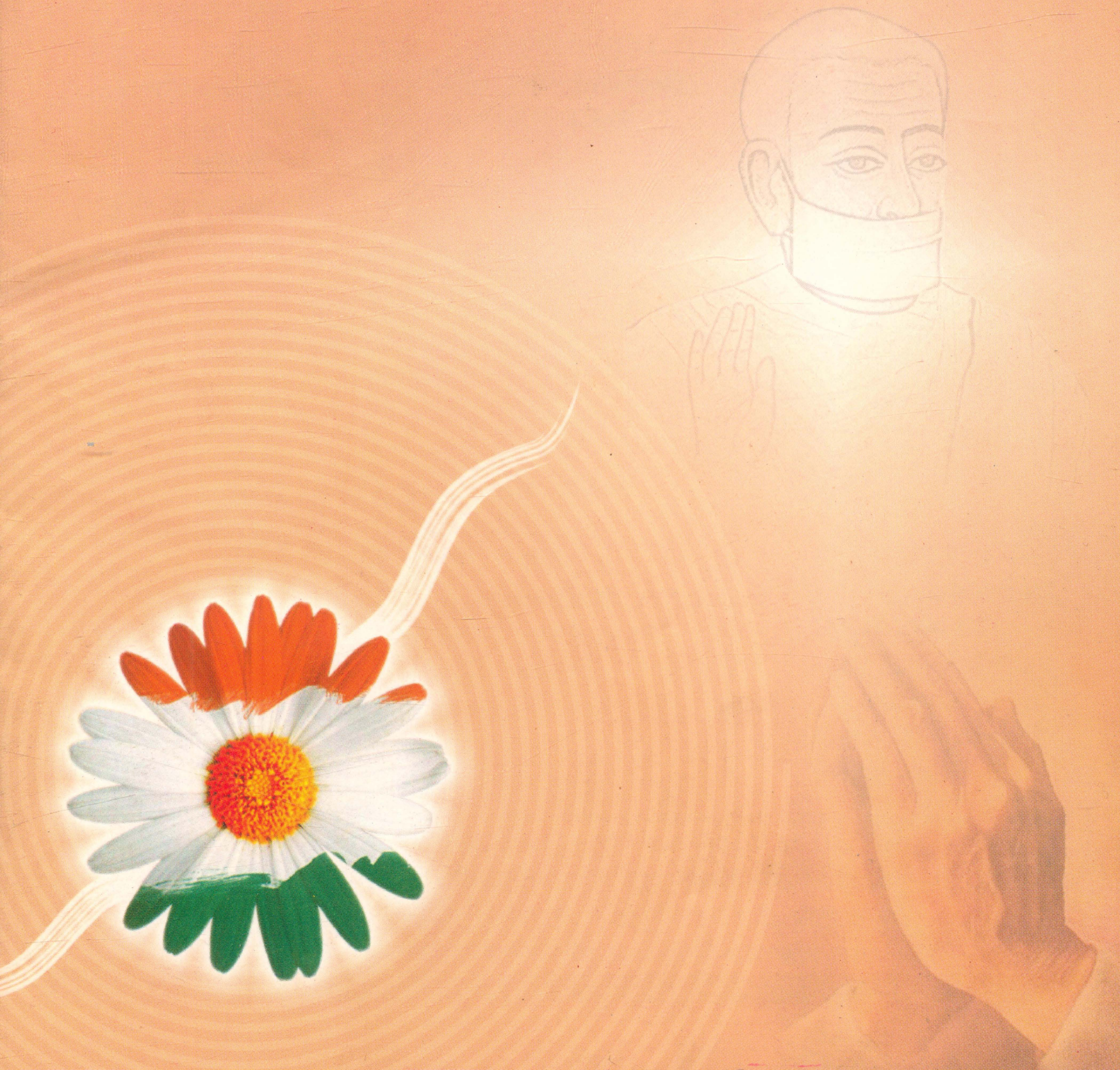

With best compliments from :

SMT MACHINES

INFRASTRUCTURE

- In-House third party inspection facility.
- SMT has three manufacturing units.
- SMT has more than 150 Heavy and Precise machine out of which about 60 machines are imported from Europe, efforts to deliver the best and on time.
- All the designing is done on 3D Autodesk Inventor software's by our experienced engineers
- SMT has taken initiative to provide Operating and Instruction Manual with most of the machines integrated by Oracles ERP Software, dedicating ourselves to professionalism committed for the Best of the After Sale Services and lot more.

Turnkey Project Experts in Total Steel Making

Apart from regular products, we provides-Certified TMT Quenching Box, Automatic and Skid Type transfer cooling Beds, Twin Channels, Eden Borne Type Coiler, Flying & Dividing Shears, Cobble Shears, Section Straightening Machine, Repeaters Roller Conyeyors, Tilting & Y Table, Snap Shears etc.

SMT

SMT MACHINES (INDIA) LIMITED

An ISO 9001:2000 Co., An ISO 14001 : 2004 Co., An ISO 18001: 2007 Co.
D & B Ranked SE 2A Unit, Govt of India Recognized Export House
G.T.Road Near Industrial Focal Point, Mandi Gobindgarh - 147301,
INDIA, Mob : + 91-93577 55555
Tel : + 91- 1765 256337, 257742, Fax : 255199
e- mail : info@smtmachinesindia.org, info@smtsteelmills.com
Web : www.smtmachinesindia.org. www.smtsteelmills.com

Fine Strokes (09866291098)

शुभू पटवा
मानद संपादक
•
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

वर्ष 60 • अगस्त, 2012 • अंक 8

विमर्श

11
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
सामंजस्य : जीवन का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य

12
आध्यात्मिक पर्व भी बने

17
जे. कृष्णमूर्ति
मुक्ति के लिए मन और ज्ञान की जकड़

23
मुनि मलयज
आध्यात्मिक उपलब्धियों के लिए षडावश्यक

29
प्रो. मुनि महेंद्रकुमार
जैन दर्शन में विश्व स्वरूप एवं संरचना

•
आवरण
गौरीशंकर

अनुभूति

33
आचार्यश्री महाश्रमण
जितेंद्रिय बनाता है निरोध और निग्रह का अभ्यास

34
आध्यात्मिक ऊर्जा के लिए आराधना

39
आचार्यश्री तुलसी
शांति के लिए मैत्री : अपनी त्रुटियों के लिए क्षमायाचना

41
कहानी
हृदयेश
गुड़हल का फूल

46
कविता
वंशी माहेश्वरी की कविताएं

प्रसंग

7
शुभू पटवा
धर्म, अध्यात्म और राष्ट्रीय चेतना

शीलन

49
मुनि कुमुदकुमार
पर्युषण : सहअस्तित्व, समभाव और विकास का पर्व

52
मुनि राजकुमार
आचार्यश्री भिक्षु : अठारहवीं सदी के प्रखर जैनाचार्य

55
बालकथा
कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'
तीन प्रेरक बालकथाएं

संपादकीय पता : संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर • फोन : 0151-2270305, 2202505
प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
सदस्यता शुल्क : वार्षिक 200/- रुपये • त्रैवार्षिक 500/- रुपये • दसवर्षीय 1500/- रुपये

मृत्युभोज के लड्डू

स्वामीजी किशनगढ़ पधारे। गोचरी के लिए गए। वेषधारी साधु चर्चा करने उनके पीछे-पीछे आए। स्वामीजी 'पांडिया के बास' मोहल्ले में गोचरी के लिए गए। वेषधारी साधु उस मोहल्ले के मोड़ पर चर्चा करने की दृष्टि से खड़े थे।

तब मलजी मेहता ने कहा—'इस चर्चा में आप स्वाद नहीं पाओगे।' बहुत कहा, पर उन्होंने उनकी एक बात नहीं मानी। इतने में स्वामीजी गोचरी कर वापस आए।

तब वेषधारी साधुओं ने कहा—'भीखणजी! आप वैरागी कहलाते हो, इस मोहल्ले में 'मृत्युभोज' था,-वहां से पकवान लाए हो?'

तब भीखणजी स्वामी ने कहा—'इसमें दोष क्या?'

तब वेषधारी साधु बोले—'आप वैरागी कहलाते हो और ऐसा काम करते हो?'

बहुत लोग इकट्ठे हो गए। स्वामीजी बोले—'हम तो मृत्युभोज के पकवान नहीं लाए।'

तब वेषधारी साधुओं ने कहा—'यदि नहीं लाए हो, तो पात्र दिखलाओ।'

स्वामीजी ने बहुत देर तक पात्र नहीं दिखलाए। वेषधारी साधुओं ने पात्र दिखलाने के लिए बहुत आग्रह किया। तब बहुत से लोगों के सामने ही उन्होंने पात्र दिखलाए। उनमें लड्डू नहीं थे। तब वेषधारी साधु बहुत लज्जित हुए। तभी मलजी मेहता ने कहा—'मैंने पहले ही बरजा था कि भीखणजी से चर्चा मत करो। क्या लाभ हुआ? बहुत लोगों में अपनी प्रतिष्ठा गंवाई।'

श्रावक और कसाई

खेरवे में स्वामीजी के पास एक व्यक्ति ओटो सियाल आया और बड़ा अंट-संट बोला—'आप श्रावकों को देने में भी पाप कहते हो और कसाई को देने में भी पाप कहते हो। इस दृष्टि से आपने श्रावक और कसाई को समान गिन लिया।'

तब स्वामीजी बोले—'ओटोजी! आपकी मां को लोटा भर कर सजीव पानी पिलाने से क्या होता है!'

तब वह बोला—'पाप होता है?'

तब स्वामीजी फिर बोले—'वेश्या को लोटा भर कर सजीव पानी पिलाने से क्या होता है?'

तब वह बोला—'इसमें भी पाप है।'

तब स्वामीजी बोले—'आपके हिसाब से आपने मां और वेश्या को क्या समान गिन लिया?'

तब वह बहुत कठिनाई में फंस गया। लोग बोले—'ओटोजी! आपने मां और वेश्या को एक-सरीखा मान लिया?'

●

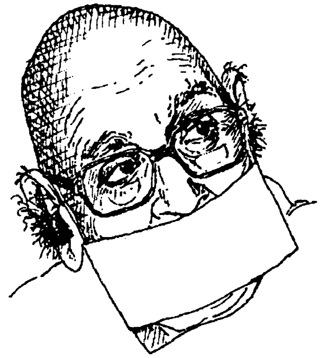

पर्युषण महापर्व एवं संवत्सरी
: मैत्री दिवस :
(14 से 21-22 अगस्त 2012)
विशेष

जीवन जीने की अवधारणा कोई काल्पनिक उड़ान नहीं है। यह 'क्लेक्टिव फॉर्म' की संस्कृति है। इसके द्वारा लाखों-लाखों लोगों की जीवनधारा बदली जा सकती है। यह प्रयोग जीवन भर का है। पर, परीक्षण की दृष्टि से एक बार अल्पकालीन प्रयोग करके देखा जा सकता है। उसके लिए 'पर्युषण' सब प्रकार से उपयुक्त समय है। बहुत से लोग 'पर्युषण' महापर्व मनाने का तरीका पूछते हैं। यदि 'पर्युषण' के आठ दिनों में जैन जीवनशैली का प्रशिक्षण और प्रयोग चले तो एक सार्थक और आकर्षक बदलाव की संभावना की जा सकती है। जो लोग 'पर्युषण' को ढर्रा या परंपरा मात्र मान कर इसकी उपेक्षा कर देते हैं, उनके लिए भी पर्युषण-काल के प्रयोग एक नई आहट हो सकता है।

जैन जीवनशैली न कोई आंदोलन है, न कोई नारा है और न ही कोई घोषणा-पत्र है। यह एक मार्ग है—जिस पर चलना है और जैनत्व को जीना है। जिसके मन में ऐसा जीवन जीने की आकांक्षा हो, वे दृढ़ संकल्प के साथ आगे आएं। वे स्वयं ऐसा जीवन जीएं और दूसरों को भी प्रेरणा दें। जिनको ऐसा जीवन जीने में रस है, वे 'पर्युषण' महापर्व के अवसर पर एक छोटा-सा प्रयोग करके अवश्य देखें। व्यक्ति, समाज और देश के लिए यह प्रयोग लाभप्रद हो सकता है। यह प्रयोग सांस्कृतिक और सामाजिक विकृतियों का निर्मलीकरण करेगा तथा आधुनिक परिस्थितियों से उपजी हुई समस्याओं को समाधान देगा—ऐसा विश्वास है।

—आचार्यश्री तुलसी

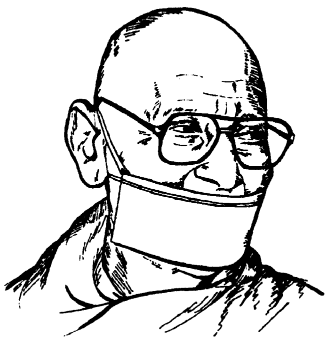

जैसे मृत्यु एक सार्वभौम नियम है, कोई भी इसका अपवाद नहीं हो सकता। वैसे ही यह भी एक सार्वभौम नियम ही है कि बिना बदले इस दुनिया में कुछ भी नहीं रह सकता। जिसने एक आकार लिया है, उसे दूसरा आकार लेना ही पड़ेगा। जिसने एक परिणमन किया है, उसे दूसरा परिणमन करना ही पड़ेगा। बदलने और परिणत होने की सीमा हो सकती है, काल की अवधि हो सकती है। यह अवधि दस वर्ष की हो सकती है, हजार और लाख वर्ष की भी हो सकती है। असंख्य काल की हो सकती है, फिर भी यह तो अटल नियम ही है कि बदलना तो पड़ेगा ही। हम एक परमाणु को लें। वह आज काले रंग का है। एक निश्चित अवधि के बाद उसे अपना रंग बदलना ही पड़ेगा। रंग स्वतः बदल जाता है। बदलने वाला दूसरा कोई नहीं है।

यह एक सार्वभौम नियम है। यह ऐसी नियति है, जिसे कभी टाला नहीं जा सकता। जो एक रंग में अभिव्यक्त हुआ है, तो उसे दूसरा रंग भी लेना ही होगा। जो एक स्पर्श में आया है, तो उसे दूसरा स्पर्श भी लेना ही होगा। जितने पर्याय हैं, वे सारे बदलते हैं। उन पर्यायों को बदलने से नहीं रोका जा सकता। उन्हें कभी शाश्वत नहीं बनाया जा सकता। जन्म एक पर्याय है। मृत्यु भी एक पर्याय है। जिसने जन्म लिया है, उसे मरना ही पड़ेगा।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

कार्यकर्ता वही व्यक्ति होता है, जो औरों के लिए काम करता है। कार्यकर्ता की पहली विशेषता अथवा पहला मौलिक गुण होता है कि उसमें परार्थ की भावना होती है। श्रद्धेय आचार्यश्री महाप्रज्ञजी अपने प्रवचन में तीन शब्दों का प्रयोग करते रहे हैं—स्वार्थ, परार्थ और परमार्थ। काम करने के तीन उद्देश्य होते हैं—अपने लिए, दूसरों के लिए या फिर परम-मोक्ष के लिए।

एक कार्यकर्ता में परमार्थ के लिए काम करने की भावना हो या न हो, पर कम-से-कम परार्थ भावना अवश्य हो, दूसरों के लिए कुछ करने वाला हो। यह विशेषता उसमें अवश्य होनी चाहिए। इसे भले परार्थ भावना कह दें या फिर दूसरे शब्दों में कहना चाहें तो 'सेवा-भावना' कह दें। पर-कल्याण महान सेवा है।

सेवा-भावना के बिना कार्यकर्ता की कर्तृत्व-शक्ति का आधार ही नहीं बन पाता। कार्य कर्तृत्व का आधार है—सेवा-भावना और सेवा-भावना सदा ही संवेदनशीलता के साथ जुड़ी होती है। यदि संवेदनशीलता नहीं है, दूसरों के सुख-दुख को या कठिनाइयों को अनुभव करने की चेतना विकसित नहीं है, वह परार्थ नहीं कर सकता। और, जो दूसरों की कठिनाइयों का संवेदन करता है, उसे समझता है, पहचानता है, जानता है, कुछ करने की भावना जागती है—तो वह सच्चे अर्थों में कार्यकर्ता कहलाता है।

जो व्यक्ति जीवन में विशिष्ट कार्य करता है, उसके सामने कठिनाइयां भी आ सकती हैं, पर कार्यकर्ता में यह विशेषता होनी चाहिए कि वह कठिनाइयों से घबराए नहीं, उन्हें साहस के साथ झेले। जितनी भी कठिनाइयां आएं, वह उन्हें पार करने का प्रयास करे।

कार्यकर्ता का दूसरा मौलिक गुण होना चाहिए—साहस। कठिनाइयां आने पर भी वह अपना कार्य बंद न करे, आत्म-विश्वास के साथ उनका सामना करे। बहुत-सी कठिनाइयां तो अपने-आप में शक्तिहीन होती हैं। व्यक्ति यदि घबराए नहीं, कुछ आगे बढ़ कर उनका मुकाबला करे—तो कई बार ऐसा लगता है कि कठिनाई जैसे कुछ थी ही नहीं, हमने अपनी कल्पना से ही कठिनाई मान ली। ऐसी कठिनाई अपने-आप ही समाप्त हो जाती है।

अतः कार्यकर्ता में साहस होना चाहिए, क्योंकि अनेक बार झूठा भय भी हमारे सामने होता है और हम घबरा जाते हैं। जल्दबाजी में अकरणीय कर बैठते या अनहोना हो जाता है।

—आचार्यश्री महाश्रमण

संदर्भ : **तेरापंथ विकास महोत्सव** (25 अगस्त 2012 : भाद्रपद शुक्ला 9) **विशेष**

प्रसंग

धर्म, अध्यात्म और राष्ट्रीय चेतना

राष्ट्रीय चेतना की जब बात आती है तो हमारे सम्मुख जो परिदृश्य उपस्थित होता है, वह मुख्यतः राजनेताओं का ही होता है और वर्तमान समय में तो उन्हीं राजनेताओं के चेहरे सामने आते हैं, जो अधिकांशतः दलीय भावनाओं से ऊपर उठ ही नहीं पाते हैं। दलीय स्तर पर भी उनका सोच-विचार निरा सतही होता है। तब उसे राष्ट्रीय चेतना से ओत-प्रोत विचार कैसे माना जा सकता है?

अकसर यह देखने में आता है कि हमारे ऐसे राजनेता दुर्बल और संकीर्ण मानसिकता वाले होते हैं। यह भी देखा जा सकता है कि 'दलीय सोच' के प्रति भी ऐसे राजनेता प्रतिबद्ध भी रह पाते हैं कि नहीं, कहना कठिन हो जाता है। आयाराम और गयाराम की बात काफी पुरानी नहीं हुई है और आज भी उसे उदाहरण के रूप में गिनाया ही जाता है, पर इसे यदि एक बार छोड़ भी दें, तो गठजोड़ों के बल शासन पर काबिज होकर सत्ता की राजनीति करने जैसी घटनाएं तो आए दिन होने लगी हैं। क्या हम इसको सिद्धांत की राजनीति कहेंगे? अवसरवादिता और येन-केन-प्रकारेण सत्ता पर काबिज हो जाने के ऐसे खेल अब जब-तब देखे जा सकते हैं। अब यदि इन कारगुजारियों को ही कोई राष्ट्रीय चेतना से ओत-प्रोत हुआ माने तो—चाहे माने, पर दरअसल ये खेल सत्ता हथियाने के कुत्सित करतब हैं और किसी भी तरह के 'धत्त करमों' से कम नहीं हैं।

ऐसा होता क्यों है? और, क्यों इन सबको सहन कर लिया जाता है? ये दोनों ही सवाल बेमानी नहीं हैं, पर दूसरे सवाल का उत्तर बड़ा जटिल है, तथापि दोनों ही सवालों के उत्तर साथ-साथ ही दिए और समझे जा सकते हैं। ऐसा होता क्यों है—इसका उत्तर तो यह भी हो सकता है कि स्वतंत्रता के बाद (बल्कि बहुत पहले से ही) हमारे देश ने लोकतंत्र को तो अपनाया, लेकिन धर्म और अध्यात्म को यह मानते हुए छोड़ दिया कि यह निजी आस्था अथवा इच्छा से जुड़ा मसला है और इस पर 'स्वेच्छ्या नीति' ही रहनी चाहिए। यह सही भी है कि धर्म और अध्यात्म हर किसी का निजी मसला है, पर यह निजी मसला अगर हमारे जीवन से ही गायब हो जाए और 'खुला खेल' चलने लगे तो क्या किसी को सोचना नहीं चाहिए? आज अधिकतर सोच यह बन रही है कि अनैतिकता, हिंसा के बेवजह प्रयत्न और अशुद्ध गठजोड़ों ने जो स्थितियां पैदा की हैं, उसका बुनियादी कारण धर्म और अध्यात्म का विलोपन है।

यहां यह स्वीकार करना भी उचित होगा कि धर्म और अध्यात्म में भी तो घाल-मेल और कुत्सितपन आ गया है। यह सही है, पर ऐसे धर्म और अध्यात्म के संगठनों को जहां से प्रश्रय मिलता है, वे ही तो सत्ता के केंद्र हैं—जिसके कारण 'मूल में मठ्ठा' डाले जाने की बातें होती हैं। सत्ता के लिए कुत्सित इरादों को ऐसे धर्म-केंद्र ताकत देते हैं और इसी तरह की ताकत पाए सत्ता-केंद्र फिर उन धर्म-केंद्रों को सक्षम बनाए रखते हैं। यह 'चोली-दामन' का ऐसा साथ हैं, जिसे अब सब जानने लगे हैं, पर उनको निर्वसन करने का साहस बहुत कम जुटाया जा पाता है। सत्ता की ऐसी राजनीति करने वाले और धर्म के बल पर नैतिकता की बीन बजाने वाली धर्म ध्वजाएं पिछले कुछ दिनों में ध्वस्त भी हुई हैं। जब-तब इनके प्रतिरोध में स्वर भी उठते रहे हैं, लेकिन इतना सब हो जाने भर से 'राष्ट्रीय चेतना' के स्वर मुखरित हुए हों और ये स्वर प्रभावकारी हो सके हों—यह कहना कठिन है।

पर, शुद्ध आचार वाले ऐसे धर्मगुरु भी हुए हैं—जो धर्म और अध्यात्म की अनुपालना के साथ-साथ राष्ट्रीय चेतना के लिए भी समर्पित रहे हैं। हमारे सामने ऐसे कई उदाहरण हैं और दो-एक बातें तो अभी भी बताई जा सकती हैं। स्थानकवासी जैन परंपरा में संवत 1948 और संवत 2000 के मध्य एक आचार्य हुए हैं—आचार्यश्री जवाहरलालजी महाराज। आचार्यश्री जवाहरलालजी ने एक धर्म संगठन के प्रमुख रहते हुए भी अछूतोद्धार, स्वदेशी और खादी के लिए उल्लेखनीय काम किया। जहां उन्होंने ताजीवन खादी पहनी, वहीं खादी व स्वदेशी की बात भी निरंतर मुखरित करते रहे। खादी व स्वदेशी तब वस्तु नहीं, विचार था। आचार्यश्री जवाहरलालजी ने अपने पांच महाव्रतों के प्रति दृढ़ आस्थाशील रहते हुए तत्समय में आवश्यक राष्ट्रीय चेतना के स्वर भी निनादित किए। अपने समकालीनों के संपर्क में आए आचार्यश्री जवाहरलालजी में यह राष्ट्रीय विचारधारा उसी धर्म और अध्यात्म के बल पर मानी व कही जा सकती है।

एक विरल व्यक्तित्व और हुआ है—आचार्यश्री तुलसी। इस महान व्यक्तित्व को आज का जन-मानस भूला नहीं है। उनका पार्थिव अवसान अभी सोलह साल ही हुए राजस्थान (गंगाशहर-बीकानेर) में ही सन् 1997 (23-6-1997; संवत 2054, आषाढ़ कृष्णा-3) में हुआ था। आचार्यश्री तुलसी ने सरदारशहर (राजस्थान; चूरू जिला) से 'अणुव्रत आंदोलन' की शुरुआत की। नैतिक चेतना के लिए सन् 1949 (2 मार्च 1949; संवत 2054, फाल्गुन शुक्ला 2) से चला यह आंदोलन आज भी अस्तित्व में है। महात्मा गांधी ने स्वतंत्रता के लिए जो आंदोलन चलाया था, तो देश स्वतंत्र हुआ। तभी उन्होंने कह दिया था कि देश में अभी लोक चेतना, नैतिक उत्थान के लिए काम करने की जरूरत है। स्वयं आचार्यश्री तुलसी ने यह माना कि गांधी के नैतिक उत्थान के सपने को साकार करने के लिए 'अणुव्रत आंदोलन' की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। अणुव्रत आंदोलन के जरिए विद्यार्थी, शिक्षक, व्यापारी और राजनेता तक—हर वर्ग के लिए कुछ छोटे-छोटे नियम स्वीकार करने का अभिक्रम अभी भी चल रहा है, जो समाज में नैतिक चेतना की निरंतरता के लिए आवश्यक है। कभी न समाप्त होने वाले इस 'अणुव्रत आंदोलन' की कमान आज तेरापंथ परंपरा के ग्यारहवें अधिष्ठाता आचार्यश्री महाश्रमणजी के हाथों में है। आचार्यश्री तुलसी तेरापंथ परंपरा के ही नौवें अधिष्ठाता थे।

राष्ट्रीय चेतना के लिए अणुव्रत आंदोलन (सन् 1949) के प्रति इसकी शुरुआत से ही गहरा आकर्षण रहा है। देश की वे प्रमुख प्रतिभाएं इस आंदोलन में जहां राष्ट्रीय चेतना की उज्ज्वल रश्मियां विकीर्ण होती देख रहे थे, वहीं वे यह भी समझ रहे थे कि नैतिकता के लिए इस आंदोलन का विस्तार जन-जन में दृढ़ता के साथ होते रहना चाहिए। तब भी वे लोग, जो मात्र सत्ता की राजनीति ही करते रहे और अपने इरादों में निहित स्वार्थों को ही तलाशते रहे—उन्हें ऐसे आंदोलन नहीं सुहाते थे और आज भी नहीं सुहाते हैं। बेशक आज ऐसे नैतिक आंदोलनों के लिए अपेक्षित जमीन बनाना कठिनतर होने लगा है। ऐसा क्यों हो गया है? यह सब उसी संकीर्ण मनोदशा का प्रतिफल है, जिसका जिक्र हम कर चुके हैं।

आज लोकतंत्र के हर पाए को दीमक लग चुकी है। सभी खंभे चरमराने लगे हैं। राष्ट्रीय चेतना का स्वांग करने वालों की भरमार है। ऐसे लोगों की भी कमी नहीं है, जो वैश्विक चेतना की बात कर 'गली' निकाल लेते हैं। राष्ट्रीय चेतना यदि खोखल हो जाती है, तो वैश्विक चेतना महज बात भर रह जाती है। देश की स्वतंत्रता से लेकर अब तक का यदि निरपेक्ष अध्ययन किया जाए, तो हमारी आंखें चुंधिया सकती हैं। सन् 1974 का संपूर्णक्रांति आंदोलन, आपातकाल और फिर 'गठबंधन का सत्ता-धर्म' की राजनीति का यदि बारीक अध्ययन किया जाए तो नैतिकता, अध्यात्म अथवा राष्ट्रीय चेतना हमें हासिए में ही दिखाई देंगे।

प्रश्न है; क्या नैतिकता, अध्यात्म और धर्म इसी तरह हासिए में रखे जाते रहेंगे? क्या सार्वजनिक जीवन में हमें आचरण की शुद्धता नहीं चाहिए? कहा जाएगा कि यह चाहिए तो सही, तब इसका प्रवेश हमारे जीवन में कैसे हो—इस पर विमति क्यों होती है? क्यों इसे संकीर्णता के दायरों में धकेल दिया जाता है? क्यों कुत्सित धर्म और सत्ता की राजनीति के निहित घाल-मेल को निर्वसन करने का साहस हम नहीं जुटा पाते?

ये सभी बातें अब साहस मांगती हैं। संयोग कि अगस्त का यह महीना इस दृष्टि से हमें पुकार रहा है। पंद्रह अगस्त, स्वतंत्रता दिवस तथा नैतिक उत्थान और आत्म शक्ति को जागृत करने का पर्युषण पर्व (14-22 अगस्त) इसी महीने में है।

धर्म, अध्यात्म और राष्ट्रीय चेतना का स्वर कैसे फूटे और हमारे जीवन का अंग बने—इन और ऐसे सभी मुद्दों पर चर्चा जरूरी है। यह समझते हुए कि संकीर्णता के दायरे क्या हैं, कहां हैं और क्यों हैं। और, यह भी समझते हुए कि सत्ता की कुत्सित राजनीति आखिर क्यों पंख फैला रही है?

—शुभू पटवा

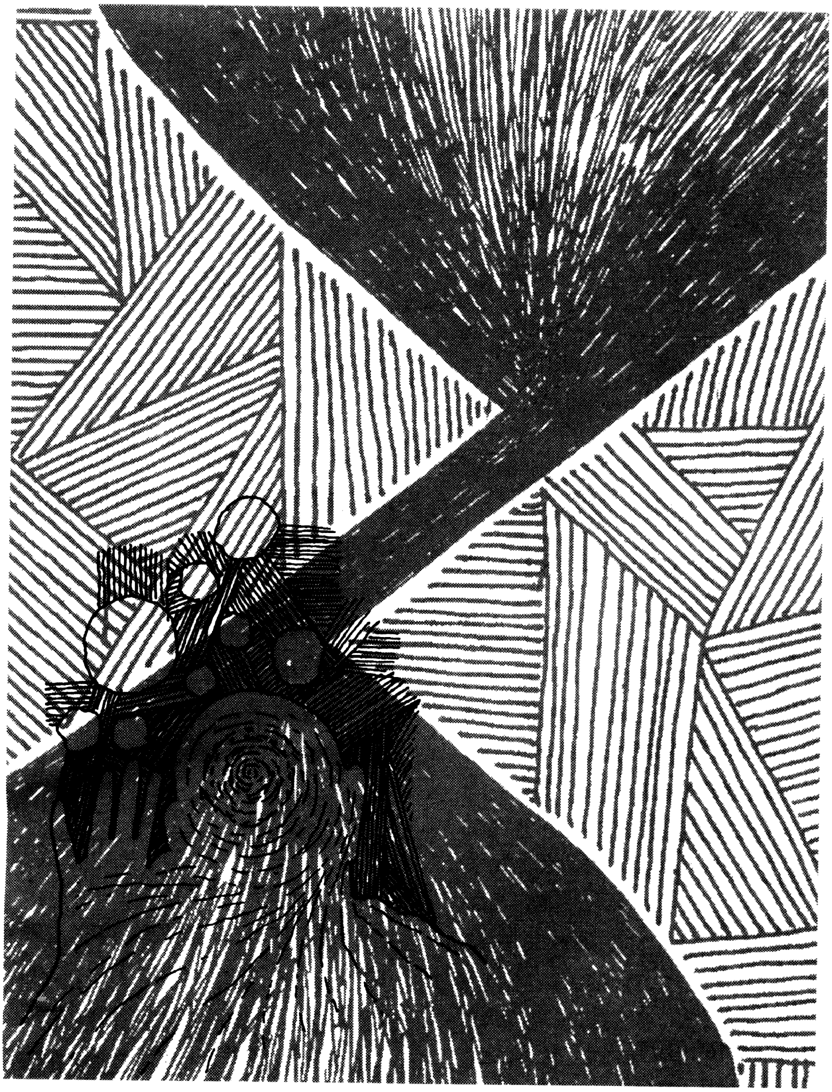

विमर्श

सचमुच यह निश्चय हो जाना जरूरी है कि हमें कहां पहुंचना है और मार्ग की दिशा क्या है। लक्ष्य और ध्येय की ही बात मैं करता हूं और समझता हूं कि उस ध्येय को सामने रख कर यदि हम निर्णय करेंगे तो तात्कालिकता के तर्क पर विचलित होने की जरूरत नहीं पड़ेगी। भारत के स्वराज्य और भारत के भविष्य के संबंध में महात्मा गांधी की दृष्टि तात्कालिक ही नहीं थी, वह दूर-दृष्टि थी। उस दूरदर्शिता को श्रद्धा के आधार पर ही थामे रखा जा सकता है। वह अदूर-दृष्टि कहलाएगी जो भारतीय प्रकृति और भारतीय परंपरा का विचार नहीं करेगी। मेरा यह भी मानना है कि अंतःप्रेरणा से जितना फल प्राप्त हो सकता है, बाहरी अंकुश से वह नहीं प्राप्त किया जा सकता। अर्थात्; राजनेता से अधिक प्रजा के प्राणों में घुला-मिला जन-नेता जो संभावनाएं लोक-जीवन में से प्रस्फुटित कर सकता है, वह अन्यथा संभव नहीं हैं। और, इस परिपूर्ति के लिए आवश्यक और उचित यह जान पड़ता है कि हमारी योजनाएं राज्याश्रित और राज्य-केंद्रित न हों, बल्कि वे लोक सामर्थ्य में से अपना जन्म लें और लोक सामर्थ्य को जगाएं।

—जैनेंद्र कुमार

स्वतंत्रता दिवस (15 अगस्त) **अवसर विशेष**

सामंजस्य : जीवन का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य

❀ आचार्यश्री महाप्रज्ञ ❀

नदी के प्रवाह की ही भांति जीवन का प्रवाह भी अनादिकाल से चलता आ रहा है। पूछा जाए कि जीवन का उद्देश्य क्या है, तो कोई कह सकता है कि कुछ भी नहीं। दरअसल जीवन नियति का एक बंधन है और उस बंधन को भोगना है। जीवन का उद्देश्य बनाया जाता है और उसका निर्माण भी किया जाता है। मनुष्य एक विवेकशील प्राणी है। उसने बुद्धि का विकास किया है। उसमें चिंतन है, मनन है, प्रज्ञा है, मेधा है और धारणा है। इसलिए वह अपने उद्देश्य का निर्धारण कर सकता है। जीवन का उद्देश्य तब क्या होना चाहिए? कोई उद्देश्य तो होना ही चाहिए, क्योंकि हमें क्षमता मिली है, विवेक मिला है। इसलिए हम उद्देश्य का निर्माण कर सकते हैं। यदि दर्शन के संदर्भ में सोचें कि जीवन का उद्देश्य क्या होना चाहिए तो मैं आपको एक छोटा-सा उत्तर दे सकता हूं। ज्ञान, दर्शन और चरित्र में सामंजस्य—जीवन का उद्देश्य होना चाहिए। जीवन को संचालित करने वाली यह त्रयी बहुत महत्त्वपूर्ण है।

ज्ञान एक दीप है, एक सूर्य है, पर ज्ञान केवल प्रकाश दे सकता है, क्रिया नहीं दे सकता। प्रकाश देना एक बात है और उसके अनुसार आचरण करना दूसरी बात है। दीया जला दिया और प्रकाश हो गया। पर, आंखों में मोतियाबिंद है, तो दीया क्या करेगा? प्रकाश का उपयोग क्या होगा? आंख है, पर शराब पी ली और मूर्च्छा आ गई। तब! सूर्य का प्रकाश है, आंखें खुली हैं, पर दिखेगा कुछ नहीं। शराब की मूर्च्छा इतनी सघन है कि उसे पता ही नहीं चलता कि रात है या दिन। उसमें मूर्च्छा के परमाणु इतने सक्रिय हो जाते हैं कि ज्ञान का काम ही समाप्त हो गया। जीवन को ज्ञान न तो परिष्कृत करता है और न विकृत।

हम जानते हैं, हम देखते हैं, आस्था और श्रद्धा करते हैं, आकर्षण उत्पन्न करते हैं और आचरण करते हैं। जैसे मस्तिष्क, हृदय और हाथ-पैर हैं—वैसे ही ज्ञान, दर्शन और चारित्र हैं। ज्ञान हमारा मस्तिष्क है, दर्शन हमारा हृदय है और चरित्र हमारे हाथ-पैर हैं। शारीरिक स्तर पर तीनों का योग है और तीनों समन्वित रूप से कार्य करते हैं, किंतु मानसिक स्तर पर ज्ञान, दर्शन और चारित्र—इस त्रयी में संगति नहीं है। इसीलिए आदमी का जीवन विसंगतियों और विरोधाभासों का जीवन है। इन विसंगतियों और विरोधाभासों को मिटाना और उस त्रयी में सामंजस्य स्थापित करना—यह जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण उद्देश्य होना चाहिए।

आज यह ज्वलंत प्रश्न है कि आदमी की कथनी और करनी में बहुत दूरी है। कहना एक प्रकार का है और आचार-विचार दूसरे प्रकार का है। यह क्यों है? ऐसा होना स्वाभाविक-सा है। ज्ञान का काम जानना है। एक आवरण हटता है और जानने की क्षमता पैदा हो जाती है। जो भीतर में था, वह प्रकट हो गया। पर, ज्ञान हो जाने पर विसंगति नहीं मिटती, विरोधाभास समाप्त नहीं होता। ऐसे बहुत सारे लोगों को देखा है, जो बड़े विद्वान और पंडित हैं, किंतु आचार और व्यवहार

की दृष्टि से शून्य हैं। उनका व्यवहार इतना रूखा और कटु होता है कि दूसरे किसी व्यक्ति से उसका समन्वय नहीं हो सकता, कोई उसके पास जाना भी पसंद नहीं करता। कहां ज्ञान, विद्वत्ता और पांडित्य और कहां आचार और व्यवहार। दोनों में भारी अंतर; क्यों? जैसे ज्ञान के साथ आचार का संबंध है, वैसे ही आचार-व्यवहार और दृष्टिकोण के साथ मूर्च्छा का संबंध भी है। मूर्च्छा का आवरण जब तक सघन रहता है, तब तक कितना ही ज्ञान आ जाए, आदमी भटक जाता है। जैनदर्शन में ज्ञान की सार्वभौमता की अस्वीकृति में कहा गया है कि पूर्वों का अध्येता, पूर्वों का ज्ञानी भी भटक सकता है। यह बहुत महत्त्वपूर्ण संकेत है।

कहा जाता है, ज्ञान ही जीवन में प्रकाश भरता है। ज्ञान एक दीप है, एक सूर्य है, पर ज्ञान केवल प्रकाश दे सकता है, क्रिया नहीं दे सकता। प्रकाश देना एक बात है और उसके अनुसार आचरण करना दूसरी बात है। दीया जला दिया और प्रकाश हो गया। पर, आंखों में मोतियाबिंद है, तो दीया क्या करेगा? प्रकाश का उपयोग क्या होगा? आंख है, पर शराब पी ली और मूर्च्छा आ गई। तब! सूर्य का प्रकाश है, आंखें खुली हैं, पर दिखेगा कुछ नहीं। शराब की मूर्च्छा इतनी सघन है कि उसे पता ही नहीं चलता कि रात है या दिन। उसमें मूर्च्छा के परमाणु इतने सक्रिय हो जाते हैं कि ज्ञान का काम ही समाप्त हो गया। जीवन को ज्ञान न तो परिष्कृत करता है और न विकृत। विकृत करने वाला कोई दूसरा तत्त्व ही है।

रक्षा बंधन आध्यात्मिक पर्व भी बने

❑ आचार्यश्री महाप्रज्ञ ❑

श्रावण की पूर्णिमा का दिन एक महत्त्वपूर्ण लौकिक पर्व 'रक्षा बंधन' का दिन है। हर दिन एक तिथि आती है, पर कुछ तिथियों का अपना विशेष महत्त्व होता है। रक्षा बंधन पर्व के साथ दो बातें होनी चाहिए। रक्षा से पहले चाहिए—शक्ति। यदि शक्ति नहीं है, तो रक्षा करने का अधिकार ही नहीं रह पाता है। अत: सबसे पहली बात है—शक्ति और दूसरी बात है—शक्ति का सम्यक् नियोजन। आज शक्ति का नियोजन कहां हो रहा है? भर्तृहरि ने ठीक कहा है—

विद्या विवादाय धनं मदाय, शक्तिः परेषां परिपीड़नाय।
खलस्य साधोर्विपरीतमेतद्, ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय।।

दो प्रकार के लोग होते हैं—सज्जन और दुर्जन। जो खल हैं, दुर्जन हैं—उनकी शक्ति पर-पीड़न में लगती है और जो सज्जन हैं—उनकी शक्ति रक्षण में लगती है।

2 अगस्त : पर्व विशेष पर नूतन चिंतन

शक्ति के सम्यक् नियोजन के लिए पहले शक्ति चाहिए। यह शक्ति कहां से आए? शक्ति के स्रोत को खोजना जरूरी है। हमारे शरीर की एक शक्ति है—शरीर-बल। हमारे श्वास की एक शक्ति है—श्वास-बल और हमारी इंद्रियों की एक शक्ति है—इंद्रिय-प्राण या इंद्रिय-बल। मन की भी एक शक्ति है। ये हमारी शक्तियां हैं, शक्ति के स्रोत हैं। जो व्यक्ति अपनी इंद्रियों को समाधि में नहीं रखता, उसके इंद्रियों की शक्तियां नष्ट हो जाती हैं। हमारी इंद्रियों में बहुत शक्तियां हैं। जैसे; हम आंख से देखते हैं, उसमें केवल इतनी ही शक्ति नहीं है। आंख में वह शक्ति है कि अमृत वर्षा हो सकती है। आंख में वह शक्ति भी है कि अभिशाप की वर्षा भी हो सकती है, क्रूरता की वर्षा भी हो सकती है। क्रूरता व कोमलता, दोनों की शक्ति आंख में होती है। अभिशाप और वरदान, दोनों की शक्ति आंख में निहित है।

→

ज्ञान के बाद आता है—दर्शन। ज्ञान के आधार पर एक दृष्टिकोण निर्मित होता है। आदमी पहले जानता है, फिर अपनी दृष्टि बनाता है। उसके बाद आचरण और व्यवहार की बात आती है। ज्ञान और आचरण के बीच एक दूरी है; श्रद्धा और विश्वास की। जब तक दृष्टिकोण (दर्शन) की यह दूरी समाप्त नहीं होती, तब तक ज्ञान आचरण को प्रभावित नहीं कर सकता। ज्ञान को प्रभावित करता है—ज्ञानावरण कर्म और दृष्टि तथा आचरण को प्रभावित करता है—मोहनीय कर्म, मूर्च्छा के परमाणु।

अतः जीवन की सफलता के लिए आवश्यक है—ज्ञान, दर्शन और चारित्र की दूरी को मिटाना, उनमें सामंजस्य स्थापित करना।

जब अतःस्रावी ग्रंथियों के स्रावों का संतुलन गड़बड़ा जाता है, तभी शारीरिक और मानसिक बीमारियां उत्पन्न होती हैं। क्रोध, भय, अहंकार और कामवासना के आवेग ही शारीरिक और मानसिक रोग उत्पन्न करते हैं। इनसे ही रासायनिक असंतुलन पैदा होता है और उसी से शरीर और मन—दोनों रुग्ण होते हैं। क्या इस सचाई को आज का डॉक्टर नहीं जानता? क्या इस सचाई को एक मनोवैज्ञानिक नहीं जानता? क्या उनमें यह ज्ञान नहीं है? जानने वाले वे शरीर-चिकित्सक और मनोचिकित्सक स्वयं भी इन बीमारियों के शिकार होते हैं। वे क्रोध करते हैं, घृणा करते हैं, आत्महत्या कर लेते हैं। क्या यह ज्ञान का, जानने का परिणाम

इंद्रियों में बहुत शक्तियां हैं। इसीलिए यह माना गया कि—इंद्रियां एक लब्धि हैं, उपलब्धि हैं। शक्ति का नियोजन तभी सम्यक् होता है, जब इंद्रियां समाहित हों। भगवान महावीर ने कहा—*'अप्पा खलु सययं रक्खियव्वो सव्विन्दिएहिं सुसमाहिएहिं*—आत्मा की रक्षा करो, अपनी रक्षा करो।'—अपनी रक्षा सबसे पहले है। जो अपनी रक्षा करना नहीं जानता, वह दूसरों की रक्षा कभी नहीं कर सकता। अपनी रक्षा का पहला सूत्र है—इंद्रियों की रक्षा करो, इंद्रियों का दुरुपयोग मत करो। आंख, कान, नाक—इनका दुरुपयोग मत करो। शक्ति का व्यर्थ क्षय मत करो, अनावश्यक व्यय मत करो। जितना आवश्यक है, बस उतने समय आंख खुली रहे, शेष समय में आंख बंद रहे।

योग का एक प्रयोग बतलाया गया—*'अलक्ष्यं लक्ष्यसंधानम्*—अपने आपको देखो।' आंख खुली है, सामने सब कुछ है, पर दिखाई कुछ नहीं दे रहा। ऐसा होता है। *अलक्ष्यं लक्ष्यसंधानम्*—आंख को भीतर लगा दो, आंख बाहर से खुली रहे—सामने कोई भी आए, पता नहीं चलेगा, क्योंकि लक्ष्य भीतर की ओर हो गया है, प्रतिसंलीनता हो गई है। केवल आंख बंद करना ही प्रतिसंलीनता नहीं है। आंख खुली रहे, किंतु दिखाई न दे। जब लक्ष्य अंतर्मुखी हो गया, तो बाहर से पता नहीं चलेगा। कोई दूसरा आता है, देखता है कि देख रहा है और स्वयं नहीं देख रहा है।

यही इंद्रियों की सुरक्षा है। इंद्रियों की शक्ति का व्यय मत करो, का तात्पर्य यही है। कान खुला है, पर सुनो मत। ऐसा हो सकता है। एक समय में ऐसी स्थिति आ जाती है कि सुनाई नहीं देता। इतना न कर सकें, तो कम से कम बुरी बातें तो न सुनें। इंद्रियों के द्वारा अपनी सुरक्षा करना ही शक्ति का संवर्द्धन है।

मन की सुरक्षा करें। मन यदि बहुत चंचल है, तो शक्ति का अर्जन कहां से होगा। तब तो शक्ति का क्षरण हो जाएगा। अतः मन का गोपन करें, शक्ति संरक्षित हो जाएगी। इंद्रियों के द्वारा या मन के द्वारा आत्मा की रक्षा हो जाएगी।

प्रश्न हो सकता है कि यह आत्मा की रक्षा तो स्वार्थ की बात हो गई। यह स्वार्थ नहीं है, यह बहुत बड़ा परमार्थ है। पहले

→

है? नहीं। उनके ज्ञान और आचरण में दूरी है। ज्ञान है, पर रसायनों के द्वारा वे सही आचरण नहीं कर पाते हैं। सर्वत्र यह विरोधाभास है।

इस भौतिकवादी वातावरण में जीवन के उद्देश्य की उचित मीमांसा नहीं की गई है। आज की सरकार यह तो चाहती है कि राष्ट्र में कोई निरक्षर न रहे, सब साक्षर हों। साक्षरता और शिक्षा का अभियान पूरे वेग से चल रहा है। इतनी शिक्षा हो जाने पर भी, ज्ञान का इतना विकास हो जाने पर भी, आर्थिक साधनों का इतना विकास हो जाने पर भी—मन की समस्याओं को कोई समाधान नहीं मिल पा रहा है। मन की समस्याएं बढ़ी हैं और बढ़ती ही जा रही हैं। संभवतः निरक्षरता के वातावरण में जैसा पागलपन नहीं था, साक्षरता के इस वातावरण में पागलपन कहीं अधिक है। पागलखानों में पागलों की भीड़ लगी हुई है। मानस-शास्त्र ने विकास किया है, फिर भी मानसिक समस्याएं समाहित नहीं हो पा रही हैं। वर्तमान समय में बौद्धिक विकास को ही सबकुछ मान लिया गया है। जीवन-विकास और आर्थिक प्रगति का आधार भी यही है। इस स्वीकृति में बेचारे मानव को बिलकुल भुला दिया है और मानसिक समस्याओं को उपेक्षित कर दिया है।

इस हालत में जब जैन दर्शन के संदर्भ में 'जीवन के उद्देश्य' की मीमांसा करते हैं, तो वहां मात्र ज्ञान को ही पर्याप्त नहीं माना जाता। जैन आगमों में एक प्रसंग है। गौतम ने भगवान महावीर से पूछा—

'भंते! क्या केवलज्ञान(कोरे ज्ञान)

अपनी शक्ति का अर्जन करें, अगर शक्ति नहीं है—तो कुछ भी नहीं होगा। ऋग्वेद में एक बहुत सुंदर सूत्र आता है—*देवा सखाय*—देवता किसका सहयोग करते हैं?—जो शक्तिशाली होता है, उसका सहयोग करते हैं। कमजोर का कोई सहयोग नहीं करता। व्यक्ति शक्तिशाली होता है, तो बिना बुलाए भी सहयोग में आ जाते हैं।

हम इस बात को ठीक से समझें। चाहे धर्म का क्षेत्र है या समाज का, राजनीति, शिक्षा या कला का क्षेत्र हो—कोई भी क्षेत्र हो, शक्ति के बिना कुछ भी नहीं होता।

अतः शक्ति का अर्जन जरूरी है। जो व्यक्ति धर्म को समझने वाला है—धर्म के मर्म को समझने वाला है, वह सबसे पहले इस ओर ध्यान देगा कि शक्ति का अर्जन कैसे हो? मैं शक्तिशाली कैसे बनूं? यह पहला लक्ष्य बनेगा कि मैं शक्तिशाली बनूं।

पहली बात है—अपनी शक्ति बढ़े। दूसरी बात है—रक्षा। किसकी रक्षा करें? कहा गया—'*सव्व जगजीव रक्खणदयाए भगवया पावयणं कहियं*—रक्षा केवल एक की नहीं, सब जीवों की रक्षा करें।'—सब जीवों की रक्षा—किसी को न मारना, न सताना, विपदा में न डालना, समस्या पैदा न करना। अपने स्वार्थ के लिए, धन के लिए किसी के प्रति अन्याय न करना—सर्वभूत रक्षा, सब जीवों की रक्षा यही है। यह शक्ति का सम्यक् उपयोग है।

रक्षा बंधन का पर्व केवल रक्षा-सूत्र को बांधने भर की प्रथा की तरह न मनाएं। उसके पीछे जो भावना है उस भावना का विकास करें। वह है—अपनी आत्मा की रक्षा करना, अपनी शक्ति का संवर्द्धन करना, इंद्रियों को समाहित रखना, मन को स्थिर व एकाग्र बनाना और प्राणी मात्र की रक्षा का संकल्प लेना—हमारा चिंतन इस रूप में चले। रक्षा का यह पर्व केवल लौकिक पर्व ही न रहे, आध्यात्मिक पर्व भी बन जाए। इस पर्व का ऐसा उपयोग हो कि इस दिन अहिंसा का, आत्मरक्षा का विशेष चिंतन-मनन किया जाए। रक्षा का यह सूत्र करुणा, अभय और संवेदनशीलता के विकास का मंत्र बन जाए—यह अपेक्षा है। ●

से जीव दुख-मुक्त हो सकता है?'

उत्तर मिला—नहीं; गौतम!

फिर प्रश्न किया गया—'भंते! क्या मात्र दर्शन से जीव दुख-मुक्त हो सकता है?'

फिर उत्तर मिला—'गौतम! नहीं।

फिर प्रश्न किया गया—'भंते! क्या कोरे चारित्र से जीव दुख-मुक्त हो सकता है?

फिर उत्तर मिला—'गौतम! नहीं।'

फिर प्रश्न किया गया—'भंते! फिर दुख-मुक्ति कैसे हो सकती है?'

फिर उत्तर मिला—'गौतम! दुख-मुक्ति के लिए ज्ञान, दर्शन और चारित्र तीनों का समन्वित योग होना चाहिए।'

ज्ञान, दर्शन और चारित्र के योग से ही जीवन का पूरा उद्देश्य बनता है। आज यह योग नहीं रहा, आज इनका वियोग है। समानरूप से तीनों का विकास होने पर ही वे कार्यकर होते हैं। जब शरीर के सारे अवयव प्रमाणोपेत होते हैं, साथ-साथ बढ़ते हैं—तो शरीर सुंदर बनता है। एक अवयव अधिक बढ़ जाता है और एक अवयव छोटा रह जाता है—तो शरीर कुरूप हो जाता है। उसका सौंदर्य नष्ट हो जाता है। आज उद्देश्य की विस्मृति के कारण ही भद्दापन आ गया है। दृष्टिकोण गलत है और आचरण भी गलत है। दृष्टिकोण में भद्दापन है और आचरण में भी भद्दापन है। बौद्धिकता का एकांगी विकास उद्देश्यपूर्ति में सक्षम नहीं हो सकता।

जीवन में दो बातें होती हैं। एक है—मूर्खता और दूसरी है—मूढ़ता। प्रत्येक आदमी में ये दोनों हैं। जन्म लेने वाला कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं है जो मूर्ख न हो, मूढ़ न हो। शिक्षा का काम है—मूर्खता को मिटा देना, व्यक्ति को समझदार बना देना। उसकी बुद्धि को बढ़ा देना। पर, मूढ़ता को मिटाना किसका काम है? यह काम है—अध्यात्म और दर्शन का। यह काम है—प्रेक्षाध्यान का, साधना का। मूढ़ता को इनके द्वारा ही समाप्त किया जा सकता है और मूर्च्छा के परमाणुओं को व्यर्थ किया जा सकता है। इनसे ही समता के परमाणुओं की सघनता बढ़ती है।

समस्त मूढ़ता का कारण है—विषमता। आदमी जितना मूढ़ होगा, उतना ही विषमता के प्रति आस्थावान होगा। आदमी मूढ़ता से जितना दूर होगा, उतना ही समता के समीप होगा। ज्ञान और आचरण के बीच में एक अवयव होता है—आकर्षण। वह आकर्षण आज समता के प्रति नहीं है, पदार्थ के प्रति है। यह आकर्षण भी ज्ञान से ही फलित हुआ है। बुद्धिमान आदमी जितना अपराधी हो सकता है, उतना अपराधी सामान्य आदमी नहीं हो सकता। बुद्धिमान आदमी अनेक तरीकों को जान सकता है। वह छिपाना जानता है, चालाकी जानता है, वह सबकुछ जानता है। जो बुद्धिमान नहीं है, सीधा-सादा है—वह जानता नहीं। बच्चा कुछ भी नहीं छिपाता। जो कुछ करता है, सब सामने और स्पष्ट रूप से करता है। पशु भी छिपाना नहीं जानता। पर, आदमी में बुद्धि है। जैसे-जैसे बुद्धि का विकास हुआ है, वैसे-वैसे उसका चातुर्य बढ़ा है। वह छिपाने और ठगने की कला में निष्णात हुआ है। वह अपनी कामना और आकांक्षा को भी छिपा लेता है।

पूरे समाज के पढ़े-लिखे लोगों का सर्वेक्षण किया जाए तो पता चलेगा कि बने-बनाए प्रश्नों और समाधानों के द्वारा आदमी अपने भीतर की समस्त दुर्बलताओं को छिपा रहा है और बाहर से स्वस्थ व सक्षम होने का स्वांग रच रहा है। बीमारी कहीं है और उसका समाधान अन्यत्र खोजा जा रहा है।

जैन दर्शन ने इस दिशा में एक समन्वित दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। यह दृष्टिकोण शिक्षा जगत के लिए भी महत्त्वपूर्ण है और व्यक्तित्व के निर्माण के लिए भी महत्त्वपूर्ण है। उसमें वर्तमान की सामाजिक समस्याओं का समाधान ढूंढ़ा जा सकता है। जैन दर्शन में कहा गया है—जहां ज्ञान का विकास हो, वहां उसके साथ-साथ मूर्च्छाविलय का भी प्रयत्न हो। आवरण को हटाने का प्रयत्न, मूर्च्छा और मूढ़ता को मिटाने का प्रयत्न—यदि होता है, तो ही ज्ञान वास्तविक प्रकाश दे सकता है। तभी अंधकार की कारा से मुक्त हुआ जा सकता है।

आज बौद्धिकता का युग है। सभी जन बौद्धिक विकास के लिए प्रयत्नशील हैं। यह बहुत अच्छी बात है, किंतु यदि अध्ययन एकांगी रहा, मूर्च्छा-विलय

की साधना साथ-साथ नहीं चली, ध्यान और तपस्या का क्रम नहीं चला—तो ठीक वही होगा जो आज सामाजिक जीवन में हो रहा है। एकांगी विकास से समस्या ही पैदा होगी।

बौद्धिक विकास की भी अपनी कुछ बुराइयां हैं, बीमारियां हैं। बौद्धिक विकास से अहंकार बढ़ता है, पारस्परिकता में अंतर आता है। तर्क बढ़ता है और मृदुता में कमी आती है। ये संभव स्थितियां हैं। अतः हमारी यह सावधानी रहे कि हम एकांगी न बनें। हम अपनी सर्वांगीणता को न छोड़ें। अध्ययन के साथ-साथ मूर्च्छा-विलय का प्रयत्न होता रहे।

मूर्च्छा के विलय का एक बड़ा उपाय है—वीतराग का ध्यान। आज किसी पढ़े-लिखे व्यक्ति से कहा जाए कि नमस्कार महामंत्र का जाप करो तो वह सोचेगा कि मैं इतना बड़ा विद्वान हो गया और अब भी नवकार मंत्र की माला फेरूं। बहुत छोटी बात है। यह सोचना एक बीमारी है। वह यह नहीं जानता कि नवकार मंत्र का अर्थ है—ज्ञान और आचरण में सामंजस्य स्थापित करना, संतुलन साधना। क्या अरिहंत और वीतराग की स्मृति करना छोटी बात है? जब हम इनकी स्मृति करते हैं, स्मृति में तन्मय होते हैं, तो हमारी वीतरागता जागती है, मूर्च्छा कम होती है, मोह, राग-द्वेष कम होते हैं, प्रियता और अप्रियता का सम्मोहन कम होता है। यह घटित होने पर जीवन की अनेक समस्याएं समाहित हो सकती हैं।

आइंस्टाइन महान वैज्ञानिक थे। वे इतने आस्थावान थे कि बड़े से बड़ा व्यक्ति भी शायद उतना आस्थावान नहीं हो सकता। वैज्ञानिक और आत्मा-परमात्मा के प्रति आस्थावान—यह क्या है? इतना बड़ा वैज्ञानिक और फिर धार्मिक! यह कैसे? यह प्रश्न हमारी ही मूढ़ता के कारण उत्पन्न हुआ है। अपनी विसंगतियों के कारण हमने ऐसे मूल्य स्थापित कर दिए, ऐसे मानदंड स्थापित कर लिए कि यदि कोई वैज्ञानिक कदाचित धार्मिक हो जाता है, तो आश्चर्य होता है। हमारी सारी धारणाएं विरोधाभासों के साथ पलने वाली धारणाएं हैं। हम विरोधाभासों को पालते जा रहे हैं। उन्हें तोड़ने का कोई प्रयत्न नहीं कर रहे हैं।

जब हम दर्शन के संदर्भ में वैज्ञानिक युग का और वर्तमान शिक्षा प्रणाली का अवलोकन करते हैं तो यह ज्ञात होता है कि एक बड़ी त्रुटि रह गई है। क्रोध और क्षोभ को मिटाने की बात हमने छोड़ दी, केवल बाह्य के पीछे भटक गए। उपाध्याय मेघविजय ने एक सुंदर बात कही है—ज्ञान वायु पर विजय पाता है। दर्शन पित्त पर विजय पाता है। चारित्र कफ का निवारण करता है। शरीर के तीन दोषों—वात, पित्त और कफ को मिटाने वाले हैं—ज्ञान, दर्शन और चारित्र। यह बहुत ठीक बात है। आयुर्वेद की दृष्टि से वायु चिंता पैदा करता है, पित्त चंचलता और क्रोध उत्पन्न करता है और कफ शोक उत्पन्न करता है। ये तीन दोष तीन प्रकार की मनोवृत्तियां पैदा करते हैं।

आज ज्ञान पर अधिक बल दिया जा रहा है। वायु-वेग को मिटाने के लिए दवाइयां बन रही हैं। वायु पर विजय प्राप्त करने की बात आ गई, किंतु दो बच गए—एक क्रोध और दूसरा शोक। आज का आदमी इन दोनों से आक्रांत है। आज का बच्चा भी इनसे अछूता नहीं है। उसमें भी क्रोध अधिक है।

आदमी में शोक की भी प्रबलता है। वह प्रायः शोकग्रस्त देखा जाता है। एक शोक मिटता है, दूसरा उभर आता है।

इन सारी स्थितियों का मूल कारण है—असंतुलन। वात, पित्त और कफ—इन तीनों में संतुलन स्थापित नहीं होगा, तब तक वांछनीय परिणाम नहीं आएंगे।

जैन दर्शन के संदर्भ में जीवन के उद्देश्य की सुंदर परिकल्पना यह है कि ज्ञान, दर्शन और चारित्र का समन्वित विकास हो। ज्ञान के साथ-साथ दर्शन का भी पूरा विकास हो और उसके साथ-साथ चारित्र का भी विकास हो। एक का विकास व्यक्तित्त्व निर्माण का घटक नहीं हो सकता। उससे सर्वांगीण व्यक्तित्व निर्मित नहीं हो सकता। तीनों के विकास से ही यह संभव है।

जब जीवन का यह उद्देश्य स्पष्ट हो जाता है—तब मानसिक, बौद्धिक और आर्थिक समस्याओं का समाधान स्वतः उपलब्ध हो जाता है। तभी जीवन की समग्र समस्याएं समाहित हो सकती हैं। ❖

मुक्ति के लिए मन और ज्ञान की जकड़

जे. कृष्णमूर्ति

जो मन मुक्ति के एक साधन के रूप में ज्ञान में जकड़ा हुआ है, वह उस मुक्ति तक पहुंच नहीं पाता—एक प्रश्न की तरह यह बात सामने आई तो उत्तर में कहा गया—क्या मन को संस्कारमुक्त करना संभव है? यदि हम जरा भी गंभीर हैं, तो यह हमारे लिए अत्यंत मौलिक प्रश्नों में से एक है। ऐसा देखने में आता है कि मनुष्य अत्यंत गहरे रूप से संस्कारबद्ध है—चाहे वह संसार के जिस भी भाग में रह रहा हो तथा उसकी संस्कृति और सामाजिक नैतिकताएं चाहे जो भी हों—वह खास ढंग से ही सोचता-विचारता है और बंधे-बंधाए ढांचों के अनुसार ही कार्य करता है। अतीत की पृष्ठभूमि से ही वह वर्तमान से जुड़ता है। उसने वृहत ज्ञान का संवर्द्धन कर लिया है तथा लाखों वर्ष का अनुभव उसके पास है। इन सभी चीजों ने उसे संस्कारबद्ध किया है; जैसे—शिक्षा, संस्कृति, सामाजिक-नैतिकता, प्रचार, धर्म। इन चीजों की ओर उसकी एक खास प्रतिक्रिया होती है, जो उसके किसी-न-किसी संस्कार का ही उत्तर है।

क्या सृजनात्मक होने के लिए मन को मुक्त नहीं होना चाहिए? अन्यथा यह पुनरावृत्ति भर होगा। इस पुनरावृत्ति में नई अभिव्यक्तियां भी हो सकती हैं, परंतु यह फिर भी पुनरावृत्ति और यांत्रिक ही है। जो मन यांत्रिक है, क्या वह सृजनात्मक हो सकता है? मनुष्य अद्भुत कविताएं और अद्भुत नाटक लिख सकता है, परंतु यदि उसका मन द्वंद्व, संघर्ष, तनाव और विक्षिप्तता की अवस्था में है, तो क्या यह सृजनात्मक हो सकता है? सृजनात्मक मन यांत्रिक नहीं हो सकता। वह ज्ञान और परंपरा के समस्त भार से बोझिल नहीं हो सकता। इसका अर्थ है कि एक ऐसा मन जो वस्तुतः गहन रूप से मुक्त है—भय से मुक्त। क्या यही मुक्ति नहीं है?

संस्कारबद्धता के पूरे आशय और अभिप्राय को समझने के लिए हमारे पास पर्याप्त सावधानी होनी चाहिए, ताकि हम देख सकें कि यह किस तरह लोगों को राष्ट्र, धर्म, समाज और भाषा के स्तर पर विभाजित करती है। ये विभाजन एक प्रचंड बाधा हैं तथा ये द्वंद्व, संघर्ष और हिंसा को जन्म देते हैं। यदि हम पूर्णतः शांति और सृजनात्मकता के साथ जीना चाहते हैं, तो हमें इस संस्कारबद्धता को समझना होगा, जो न केवल सतही और ऊपरी तौर पर मौजूद है, बल्कि जो गहरे और गुप्त रूप से भी मौजूद है।

क्या संस्कारबद्धता के पूरे ढांचे को उजागर और उद्घाटित किया जा सकता है? यदि हां, तो इसके पार जाने के लिए हमको क्या करना होगा?

यदि हम अवलोकन करते हैं कि हम संस्कारबद्ध हैं और कहते हैं

कि मैं संभवतः मन को कभी संस्कारमुक्त नहीं कर सकता, तो हम संभावना का अंत कर देते हैं। यदि हम इस सिद्धांत के साथ आरंभ करते हैं कि व्यक्ति कभी भी संस्कारमुक्त नहीं होगा, तो सारी जांच-पड़ताल यहीं रुक जाती है। हम अपने प्रतिरोध द्वारा समस्या का उत्तर देते हैं और वह यहीं खत्म हो जाती है; तब हम अपनी संस्कारबद्धता को और भी अधिक सजाने-संवारने का काम कर सकते हैं। परंतु, यदि हम इसकी गहराई में जाकर पूरी समस्या से अवगत हो जाएं, तो हमें क्या करना होगा? यदि यह एक अत्यधिक गंभीर चुनौती है, जिसकी हम उपेक्षा नहीं कर सकते, तो हम इसका उत्तर कैसे देंगे? यदि यह चुनौती जीवन में प्रचंड रूप से जीवंत और महत्त्वपूर्ण है, तो इसकी ओर हमारा क्या उत्तर है?

यदि हमने अपनी संस्कारबद्धता का पता लगा लिया है, तो हमारे अवलोकन का क्या ढंग है? क्या हमने स्वयं इसका अवलोकन किया है, अथवा किसी ने इसके संबंध में हमें बताया है? यह वस्तुतः एक बिलकुल ही महत्त्वपूर्ण प्रश्न है, जिसका उत्तर दिया जाना चाहिए। यदि किसी ने इस संबंध में बताया है और हम कहते हैं—'हां! मैं संस्कारबद्ध हूं'—तो हम सिर्फ एक सुझाव का उत्तर दे रहे हैं। यह वास्तविक नहीं है, यह एक शाब्दिक धारणा है, जिससे हम सहमत हैं और इसलिए इसे स्वीकार कर लिया है। परंतु, इससे बिलकुल ही भिन्न वह स्थिति है जब हम स्वयं संस्कारबद्धता का पता लगाते हैं—तब यह एक प्रचंड रूप से जीवंत चुनौती बन जाती है और हमारे पास वह आवेग एवं उत्कटता होती है, जिससे कि इससे बाहर निकलने का मार्ग ढूंढ़ सकें।

क्या हमने यह पता लगाया है कि हम संस्कारबद्ध हैं, क्योंकि हमने इस बात की खोजबीन, छानबीन और जांच-पड़ताल की है? यदि हां, तो किसने यह पता लगाया है? क्या एक द्रष्टा, विश्लेषक या जांचकर्ता, जो संसार में संस्कारबद्धता के कारण उत्पन्न सारे पागलपन और गड़बड़ी का अवलोकन एवं विश्लेषण कर रहा है तथा उसकी जांच-पड़ताल कर रहा है? वह 'कौन' है, जिसने अवलोकन द्वारा संस्कारबद्धता के ढांचे की तथा इसके परिणाम की खोज की है? बाह्य और आंतरिक रूप से अवलोकन करने पर क्या घटित होता है? द्वंद्व, संघर्ष, युद्ध, दुख, स्वयं के भीतर और बाहर अशांति एवं अव्यवस्था—अत्यंत ध्यानपूर्वक इन सब का अवलोकन करने पर, जो सारे संसार में हो रहा है, मैंने यह पता लगाया है कि मैं संस्कारबद्ध हूं और मैंने इस संस्कारबद्धता के परिणामों की भी खोज की है। अतः यहां एक 'द्रष्टा' है, जिसने पता लगाया है कि वह संस्कारबद्ध है।

यहां यह प्रश्न उठता है—क्या 'द्रष्टा' स्वयं उस चीज से भिन्न है, जिसकी उसने खोज की है तथा जिसका उसने अवलोकन किया है? अर्थात्—क्या खोजी गई वस्तु खोजकर्ता से अलग है? यदि यहां अलगाव है, तो वह न केवल विभाजन पैदा करेगा, बल्कि इस बात का द्वंद्व और संघर्ष भी पैदा करेगा कि इस संस्कारबद्धता पर कैसे विजय प्राप्त की जाए, स्वयं को इससे कैसे मुक्त किया जाए, इस दिशा में कौन-सा कदम उठाया जाए, इत्यादि।

हमें सर्वप्रथम यह पता लगाना होगा कि क्या यहां दो पृथक गति और वस्तुओं का अस्तित्व है—'द्रष्टा' और 'दृश्य'? क्या ये दोनों पृथक हैं? अथवा क्या 'द्रष्टा' ही 'दृश्य' है? यह स्वयं पता लगाना अत्यावश्यक है। यदि हम इसका पता लगा लेते हैं, तो हमारे सोचने-विचारने के पूरे ढंग में एक पूर्ण परिवर्तन आ जाता है। यह एक अत्यंत मूलभूत खोज है, जिसके फलस्वरूप नैतिकता के ढांचे का तथा ज्ञान के सातत्य का हमारे लिए तब एक भिन्न अर्थ होगा। अब हम यह पता लगाएं कि हमने स्वयं यह खोज की है, अथवा दूसरे द्वारा कहे गए तथ्य को स्वीकार कर लिया है। यदि यह स्वयं हमारी खोज है, तो यह प्रचंड ऊर्जा को निर्मुक्त करती है, जिस ऊर्जा का अपव्यय पहले 'द्रष्टा' और 'दृश्य' के विभाजन में होता था।

क्रिया में कायम रखा गया ज्ञान का सातत्य वस्तुतः ऊर्जा का अपव्यय है—ज्ञान, जो मनोवैज्ञानिक संस्कार है। 'द्रष्टा' द्वारा ही ज्ञान का संग्रह किया गया है और द्रष्टा उस ज्ञान का उपयोग क्रिया में करता है, परंतु वह ज्ञान क्रिया से विभाजित और पृथक है, अतः यहां द्वंद्व पैदा होता है और जो सत्ता इस ज्ञान का स्वामी है—जो अनिवार्यतः उसका संस्कार है—वह 'द्रष्टा' है। हमें स्वयं इस बुनियादी सिद्धांत की खोज करनी चाहिए। यह इस अर्थ में सिद्धांत नहीं है कि इसे नियत और निर्धारित किया

गया है, बल्कि यह एक ऐसी वास्तविकता है—जिस पर कभी प्रश्नचिह्न नहीं लगाया जा सकता।

उस मन के साथ क्या घटित होता है, जिसने इस सरल तथ्य एवं सत्य को खोज लिया है कि 'द्रष्टा' ही 'दृश्य' है। मनोवैज्ञानिक अर्थों में इस खोज के बाद मन की गुणवत्ता के साथ क्या घटित होता है—वह मन जो शरीर से पृथक आत्मा आदि की अपनी धारणा द्वारा इतने दिनों से संस्कारबद्ध रहा है? यदि, यह खोज मुक्ति की ओर द्वार नहीं खोलती है, तो इसका कोई अर्थ नहीं है, यह फिर एक दूसरा बौद्धिक विश्वास और धारणा ही है, जो हमको कहीं नहीं ले जाएगा। परंतु, यदि यह एक सच्ची खोज है तथा एक सच्ची वास्तविकता है, तो वहां मुक्ति और स्वतंत्रता होनी ही चाहिए। इस स्वतंत्रता का यह अर्थ नहीं है कि हम जो चाहें सो करें; न ही यह कुछ बनने की, निर्णय करने की, परितुष्टि पाने की अथवा अपनी पसंद के अनुसार सोचने और कार्य करने की स्वतंत्रता है।

क्या एक स्वतंत्र और मुक्त मन चुनाव करता है? चुनाव का अर्थ है—यह और वह के बीच निर्णय, लेकिन प्रश्न यह है कि चुनाव की जरूरत ही क्या है? हमें इनकी जांच करनी होगी, इन्हें प्रतिदिन जीना होगा और तभी हमको इनके सौंदर्य एवं आवेग तथा इनकी तेजस्विता एवं तीव्रता का बोध होगा। चुनाव का निहितार्थ है—निर्णय। निर्णय इच्छाशक्ति की क्रिया है। अब प्रश्न यह है—वह कौन-सी सत्ता या हस्ती है जो 'यह' अथवा 'वह' करने के लिए इच्छाशक्ति का प्रयोग करती है? इसे सावधानीपूर्वक समझने की कोशिश करने की जरूरत है। यदि 'द्रष्टा' ही 'दृश्य' है, तो वहां किसी भी निर्णय की आवश्यकता ही क्या है? जहां मनोवैज्ञानिक तल पर किसी भी तरह का निर्णय है—जो चुनाव पर निर्भर है—तो वह एक ऐसे मन का संकेत करता है, जो भ्रमित है। ऐसा मन जो बिलकुल साफ-साफ और स्पष्टतापूर्वक देखता है, वह चुनाव नहीं करता। उसके लिए केवल क्रिया शेष रह जाती है। स्पष्टता का अभाव वहीं उत्पन्न होता है—जहां 'द्रष्टा' और 'दृश्य' के बीच विभाजन है।

प्रश्न फिर उपस्थित होता है कि तथ्यपरक दृष्टि से देखा जाए, तो यह चुनाव और निर्णय अपरिहार्य है—क्या, नहीं?

निश्चय ही हम लाल कपड़े और भूरे कपड़े के बीच चुनाव करेंगे। परंतु, यहां हम मनोवैज्ञानिक चुनाव की बात कर रहे हैं।

यदि चुनाव के प्रभावों तथा विभाजन और निर्णय के प्रभावों को समझा जाए, तो चुनाव करना एक बिलकुल ही तुच्छ मामला हो जाता है। उदाहरणार्थ—इस संसार में मेरा पालन-पोषण एक हिंदू या ईसाई के रूप में हुआ है, परंतु मैं असंतुष्ट एवं भ्रमित हूं—तो मैं किसी और धर्म का 'चुनाव' करता हूं, उसके संगठन में कूद पड़ता हूं। किंतु, जब मैं किसी विशेष धार्मिक संस्कृति की तथा इससे जुड़ी संस्कारबद्ध मानसिकता की जांच-पड़ताल करता हूं, तो मैं देखता हूं कि यह सब प्रचार का परिणाम है, यह स्वीकृत विश्वासों की एक श्रृंखला है—जिनका जन्म भय एवं मनोवैज्ञानिक सुरक्षा की मांग से हुआ है। चूंकि आंतरिक रूप से व्यक्ति दुखी, दयनीय, अपर्याप्त और अनिश्चित है, अतः वह किसी ऐसी चीज की आशा लगाता है—जो सुरक्षा और निश्चितता प्रदान कर सके। तो जब एक धर्म मेरे लिए बेकार हो जाता है, तब सुरक्षा की तलाश में मैं दूसरे धर्म की शरण में चला जाता हूं। परंतु, यही चीज वहां भी है, फर्क है तो केवल नाम का—'अ' की जगह 'ब'। जब मन इसे साफ-साफ देख लेता है, तो सारी स्थिति इसकी समझ में स्पष्ट हो जाती है और इसे चुनाव की आवश्यकता नहीं रहती। तब 'इच्छाशक्ति' पर आधारित समस्त क्रियात्मक उत्तर का पूर्णतः अंत हो जाता है। इच्छाशक्ति में प्रतिरोध निहित है, जो अलगाव का ही एक रूप है—ऐसा मन जो अलग-थलग है, वह मुक्त मन नहीं है।

जो मन मुक्ति के एक साधन के रूप में ज्ञान के अर्जन में लीन और लिप्त है, वह उस मुक्ति तक पहुंच नहीं पाता। जीवन में ज्ञान इतना असाधारण महत्त्व की चीज क्यों हो गया है? ज्ञान का अर्थ है—विभिन्न क्षेत्रों में दूसरे लोगों द्वारा की गई खोजों का संचित अनुभव तथा निजी अवलोकन और प्रयास द्वारा प्राप्त किया गया ज्ञान। मुक्ति में ज्ञान का क्या स्थान है? ज्ञान का संबंध सदा अतीत से है। जब आप कहते हैं कि मैं जानता हूं, तो इसका निहितार्थ है कि आप जान चुके हैं। ज्ञान किसी भी तरह का हो—वैज्ञानिक, व्यक्तिगत, सामुदायिक—

इसका संबंध सदा अतीत से है और जैसा कि मनुष्य का मन अतीत का परिणाम है अतः क्या यह कभी मुक्त हो सकता है?

तब हमारे सामने प्रश्न आता है कि—आत्मज्ञान के बारे में हमारा क्या कहना है?

इसके उत्तर में कहना होगा कि—पहले हम यह देखें कि मन ज्ञान का संग्रह कैसे करता है? फिर यह देखें कि ज्ञान कहां आवश्यक है और कहां यह मुक्ति के मार्ग में बाधा है। जाहिर है कि कोई भी काम करने के लिए हमारे पास ज्ञान होना ही चाहिए—एक कार चलाने के लिए, कोई भी भाषा बोलने के लिए, कोई तकनीकी कार्य करने के लिए—पर्याप्त ज्ञान होना चाहिए और यह जितना ही कार्यसाधक, वस्तुपरक और अवैयक्तिक हो—उतना ही अच्छा। परंतु, हम यहां उस ज्ञान की बात कर रहे हैं जो हमें मनोवैज्ञानिक रूप से संस्कारबद्ध कर देता है।

'द्रष्टा' ही ज्ञान का भंडार है। अतः 'द्रष्टा' अतीत की उत्पत्ति है। 'द्रष्टा' वह नियंत्रक सत्ता है, जो संगृहीत ज्ञान से ही अपना सारा फैसला और निर्णय करता है और यह कार्य वह स्वयं को ही ध्यान में रख कर करता है। मनोवैज्ञानिकों से स्वयं के बारे में जानकारी प्राप्त कर वह यह सोचने लगता है कि उसने स्वयं को जान लिया है और इसी ज्ञान से वह सदा स्वयं को देखता है। इस कारण वह स्वयं को कभी ताजा आंखों से नहीं देखता। वह कहता है—'मुझे पता है, मैंने स्वयं को देखा है, मेरे कुछ हिस्से तो असाधारण रूप से अच्छे हैं, परंतु अन्य हिस्से दरअसल भयानक हैं।'—इस तरह वह पहले ही निर्णय कर चुका है और वह स्वयं के बारे में कभी किसी नई चीज का पता नहीं लगाता, क्योंकि वह स्वयं का अवलोकन 'द्रष्टा' बन कर करता है और इस तरह वह स्वयं 'द्रष्टा' और 'दृश्य' में विभाजित हो जाता है। अपने सारे संबंधों में हम हर समय यही कर रहे हैं। हमारा संबंध किसी व्यक्ति से हो या किसी वस्तु से, यह हमारी इस इच्छा पर आधारित है कि हम अपने लिए एक ऐसा स्थान प्राप्त करें, जहां हम पूर्णतः सुरक्षित और निश्चिंत हो सकें। हम इस सुरक्षा की खोज ज्ञान में करते हैं और इस ज्ञान का स्वामी वह विचारकर्ता, अनुभवकर्ता और 'द्रष्टा' है, जो स्वयं को सदा 'दृश्य' से पृथक रख रहा है।

ज्ञान के संग्रह में प्रज्ञा का अस्तित्व नहीं है। ज्ञान का संग्रह एक स्थिर और गतिहीन प्रक्रिया है। हम ज्ञान में वृद्धि कर सकते हैं, किंतु इसका अंतर्भाग सदा स्थिर और गतिहीन रहता है। इसी स्थिर और गतिहीन संग्रह से व्यक्ति जीता है, कार्य करता है, चित्रकारी और लेखन करता है, अर्थात् वह संसार में सारा उपद्रव करता है और इसे ही वह स्वतंत्रता और मुक्ति के नाम से पुकारता है। अतः क्या मन ज्ञान और 'ज्ञात' से मुक्त हो सकता है? यह वस्तुतः एक अत्यंत असाधारण प्रश्न है, यदि हम इसे मात्र बौद्धिक रूप से नहीं, बल्कि वस्तुतः अतिशय गहराई से पूछें—क्या मन कभी 'ज्ञात' से मुक्त हो सकता है? अन्यथा कोई सृजन संभव नहीं है, अन्यथा इस पृथ्वी पर कोई नई चीज संभव नहीं है—जो भी है, वह पुनर्निर्मित का ही पुनर्निर्माण और सुधार है।

हमें यह पता लगाना होगा कि 'द्रष्टा' और 'दृश्य' के बीच यह विभाजन क्यों है? क्या मन इस विभाजन के पार जा सकता है, ताकि यह 'ज्ञात' से मुक्त होकर एक सर्वथा भिन्न आयाम में कार्य करने लगे? इसका अर्थ यह है कि आवश्यकता होने पर प्रज्ञा ज्ञान का उपयोग करेगी और फिर भी यह ज्ञान से मुक्त रहेगी।

प्रज्ञा का निहितार्थ है—मुक्ति और मुक्ति का निहितार्थ है—समस्त द्वंद्व की समाप्ति। प्रज्ञा का पदार्पण और द्वंद्व का अंत तभी होता है, जब 'द्रष्टा' और 'दृश्य' एक हो जाते हैं। क्योंकि तब कोई विभाजन नहीं रह जाता और जहां प्रज्ञा है, वहीं प्रेम है। यह 'प्रेम' शब्द इतनी बुरी तरह बोझिल है कि इसका प्रयोग करते हुए हिचकना पड़ता है—प्रेम का संबंध सुख से, कामवासना से, भय से, ईर्ष्या से, निर्भरता से एवं लालसा और लिप्सा से जोड़ दिया गया है। जो मन मुक्त नहीं है वह प्रेम का अर्थ नहीं जानता है—वह भले ही सुख को जानता हो और इसलिए भय को भी, परंतु ये सब प्रेम कदापि नहीं हैं।

प्रेम का प्रादुर्भाव तभी हो सकता है, जब ज्ञान के रूप में कार्यरत अतीत से पूर्ण मुक्ति हो। क्या यह कभी संभव है? मनुष्य ने विभिन्न ढंग से ज्ञान की क्षणभंगुरता से मुक्ति पाने का प्रयास किया है। उसने सदा किसी ऐसी चीज की खोज की है, जो ज्ञान एवं विचार के उत्तर से परे हो, और अपनी इसी खोज में उसने 'ईश्वर' नाम की

प्रतिमा का सृजन कर लिया है, जिसके चारों ओर इसी प्रकार की मूढ़ताएं मौजूद हैं। परंतु, विचार की प्रतिमावली और कल्पनासृष्टि से परे किसी चीज का अस्तित्व है या नहीं, यह पता लगाने के लिए समस्त भय से मुक्ति होनी चाहिए।

यहां एक दूसरा ही प्रश्न उठता है कि—क्या हम मस्तिष्क और मन के बीच भेद कर रहे हैं? जिसमें मस्तिष्क का संबंध बुद्धि से है एवं मन कुछ और ही चीज है। जैसे—सजगता?

उत्तर में यह कहा जा सकता है कि—मन शब्द का प्रयोग हम जिस अर्थ में कर रहे हैं, वह है—स्मृति और ज्ञान के रूप में कार्यरत विचार की पूरी प्रक्रिया, जिसमें मस्तिष्क की कोशिकाएं भी समाविष्ट हैं। स्पष्टतः मस्तिष्क की कोशिकाओं को हम शेष मन से पृथक नहीं कर सकते। क्या कोई कर सकता है? मस्तिष्क का कार्य क्या है? क्या यह एक कंप्यूटर की तरह कार्य करता है?

यह एक अत्यंत असाधारण एवं अद्‌भुत कंप्यूटर है, जिसका निर्माण हजारों वर्ष की अवधि में हुआ है। जीवन-अस्तित्व को कायम रखने के लिए हजारों वर्ष के दौरान अर्जित किए गए अनुभवों का ही परिणाम है—यह मस्तिष्क। बाह्य जगत में घटित होने वाली प्रत्येक घटना के बारे में हमारा ज्ञान कितना अधिक है, परंतु स्वयं के बारे में ही हमारा ज्ञान कितना कम है!

फिर प्रश्न खड़ा होता है कि—क्या यह संभव नहीं है कि सृजन स्मृति पर निर्भर हो और इसीलिए अतीत पर भी निर्भर हो? यह तो माना ही है कि इस पृथ्वी पर वस्तुतः कुछ भी नया नहीं है।

उत्तर मिलता है कि—कम से कम धर्मशास्त्रों का तो यही कहना है कि इस पृथ्वी पर कुछ भी नया नहीं है। क्या हम सृजन को अभिव्यक्ति के साथ नहीं जोड़ रहे हैं? क्या एक सृजनात्मक व्यक्ति को अभिव्यक्ति की आवश्यकता है? कृपया इस पर सोचें-विचारें—'मैं किसी ऐसी चीज द्वारा आत्मपरितुष्टि पाना चाहता हूं, जिसे अभिव्यक्त किया जा सके, मेरे अंदर एक ऐसा भाव है कि मैं एक कलाकार हूं और मुझे एक चित्र बनाना चाहिए या एक कविता लिखनी चाहिए।'—परंतु प्रश्न यह है, क्या सृजनात्मकता को अभिव्यक्ति की जरा भी आवश्यकता है? और, क्या एक कलाकार की अभिव्यक्ति एक ऐसे मन को सूचित करती है—जो सृजन में स्वतंत्र और मुक्त है? क्या हम प्रश्न को समझ रहे हैं? कोई व्यक्ति एक कविता लिखता है, या एक चित्र बनाता है—क्या यह एक सृजनात्मक मन को सूचित करता है? सृजनात्मकता का क्या अर्थ है? अतीत की यांत्रिक पुनरुक्ति की बात नहीं है—यह।

सवाल उठता है कि—सृजनात्मकता के लिए अभिव्यक्ति आवश्यक है, अन्यथा यह संसार नहीं होता।

तब यह बात भी उपस्थित होती है कि—क्या सृजनात्मकता के लिए अभिव्यक्ति आवश्यक है? सृजनात्मकता का क्या अर्थ है? एक सृजनात्मक मन की क्या अनुभूति है?

उत्तर में कहा जा सकता है कि—जब मन प्रेरित अनुभव करता है, जब यह कोई ऐसी चीज बना सकता है, जो अच्छी और सुंदर हो।

फिर सवाल बनता है कि—क्या एक सृजनात्मक मन को प्रेरणा की आवश्यकता है?

क्या सृजनात्मक होने के लिए मन को मुक्त नहीं होना चाहिए? अन्यथा यह पुनरावृत्ति भर होगा। इस पुनरावृत्ति में नई अभिव्यक्तियां भी हो सकती हैं, परंतु यह फिर भी पुनरावृत्ति और यांत्रिक ही है। जो मन यांत्रिक है, क्या वह सृजनात्मक हो सकता है? मनुष्य अद्‌भुत कविताएं और अद्‌भुत नाटक लिख सकता है, परंतु यदि उसका मन द्वंद्व, संघर्ष, तनाव और विक्षिप्तता की अवस्था में है, तो क्या यह सृजनात्मक हो सकता है?

सृजनात्मक मन यांत्रिक नहीं हो सकता। वह ज्ञान और परंपरा के समस्त भार से बोझिल नहीं हो सकता। इसका अर्थ है कि एक ऐसा मन जो वस्तुतः गहन रूप से मुक्त है—भय से मुक्त। क्या यही मुक्ति नहीं है?

यहां यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि—फिर भी ऐसा मन सुरक्षा की खोज तो करेगा ही। मस्तिष्क का यही तो कार्य है।

उत्तर आता है—निस्संदेह सुरक्षा की खोज करना मस्तिष्क का कार्य है। परंतु, क्या ऐसा मन सुरक्षित है, जो राष्ट्रीयता और धार्मिक विश्वासों के रूप में स्वयं को

संस्कारबद्ध कर लेता है तथा कहता है कि यह मेरा है, वह तुम्हारा है, इत्यादि।

फिर प्रश्न खड़ा होता है कि—विरोध के बिना कोई विकास नहीं होता। यह तंत्रिका विज्ञान (Neurology) का हिस्सा है।

हम इसकी छानबीन करें। लाखों वर्ष से हमने इसी तरह तो जीया है—अच्छे और बुरे के बीच, घृणा, ईर्ष्या और प्रेम के बीच, कोमलता और क्रूरता के बीच; हिंसा और भद्रता के बीच! और, हम कहते हैं कि हमने इसे स्वीकार कर लिया है, क्योंकि यह वास्तविक चीज है। क्या यही वास्तविक चीज है, उस तरह से जीने के लिए? मन की ऐसी गुणवत्ता जो घृणा और ईर्ष्या के बीच तथा सुख और भय के बीच डोलती रहती है, क्या वह जान सकती है कि प्रेम का क्या अर्थ है? जो मन सदा अभिव्यक्ति और परितुष्टि की खोज करता रहता है तथा जो प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित होने की कोशिश करता रहता है, जिसे हम 'कुछ होना और बनाना' कहते हैं, जो हमारे संस्कार और सामाजिक ढांचे का हिस्सा है—क्या ऐसा मन सृजनात्मक हो सकता है? जो मन निरंतर कुछ न कुछ बनने की प्रक्रिया में उलझा रहता है, मृत्यु एवं 'अज्ञात' से भयभीत रहता है, ज्ञात से चिपके रहता है—क्या ऐसा मन कभी सृजनात्मक हो सकता है? क्या दबाव, तनाव और विरोध से कभी सृजन फलित हो सकता है?

प्रश्न खड़ा होता है कि—सृजनात्मकता तो कल्पना और आनंद है।

पर, उत्तर आता है कि—क्या हम जानते हैं कि आनंद का क्या अर्थ है? क्या आनंद सुख है?

हम 'नहीं' कह सकते हैं, परंतु, उसकी खोज नहीं कर रहे हैं? एक क्षण के लिए हमें परम आनंद और परम आह्लाद का बोध हो सकता है, परंतु अगले ही क्षण हम इसके बारे में सोचने लगते हैं। इस पर सोचने-विचारने से यह सुख में परिणत हो जाता है। हम सभी अत्यंत आसानी से निष्कर्षों पर पहुंच जाते हैं और निष्कर्षों पर पहुंचा हुआ मन मुक्त मन नहीं है। हम देखें कि व्यक्ति निष्कर्षों के बिना जी सकता है या नहीं, वह प्रतिदिन तुलनाओं से रहित जीवन बिता सकता है या नहीं? चूंकि हम तुलना करते हैं, इसीलिए निष्कर्ष निकालते हैं। हम एक ऐसा जीवन जीएं जिसमें कोई भी तुलना न हो।

फिर प्रश्न होता है कि—यदि मात्र अनुभव शेष रह जाए और अनुभव भय या क्रोध हो, तो क्या घटित होगा?

उत्तर में कहा जाता है कि—यदि हम एक अनुभव में इस तरह जीएं कि वह अनुभव भविष्य में पहचाना जा सके, तो क्या घटित होगा? मैं समझता हूं कि हमें सर्वप्रथम यह पता लगाना होगा कि 'अनुभव' शब्द से हमारा क्या अभिप्राय है। क्या इसका निहितार्थ किसी चीज से गुजरना और उसको पार करना नहीं है और क्या इसमें पहचानने की क्रिया भी निहित नहीं है? अन्यथा हमें पता भी कैसे चलेगा कि हमें अनुभव हुआ था? यदि मैं अनुभव को न पहचान पाऊं, तो क्या इसका अनुभव किया जा सकता है?

हम थोड़ा और आगे बढ़ें। हमें अनुभव की आवश्यकता ही क्यों है? हम सभी लोग अनुभव चाहते हैं। हम जीवन से ऊबे हुए हैं। हमने जीवन को एक यांत्रिक मामले का रूप दे दिया है और हम विस्तीर्ण, गहरे एवं भावातीत अनुभवों की खोज करते हैं। हम 'ध्यान' के सहारे इस ऊब और नीरसता से पलायन करके किसी तथाकथित दिव्य अनुभव में प्रवेश करना चाहते हैं। अनुभव का निहितार्थ है, जो चीज घटित हो चुकी है—उसकी पहचान और हम उसे तभी पहचान सकते हैं, यदि उस घटना की स्मृति हमारे पास है। अतः प्रश्न यह है कि हम अनुभव की खोज करते ही क्यों हैं? क्या स्वयं को जगाने के लिए?—क्योंकि हम सोए हुए हैं? क्या अनुभव एक चुनौती है, जिसका उत्तर हम अपनी पृष्ठभूमि के अनुसार अर्थात् 'ज्ञात' के अनुसार देते हैं?

अतः क्या एक ऐसा जीवन जीना संभव है, जिसमें मन इतना स्पष्ट और जागरूक हो तथा यह अपने लिए स्वयं एक ज्योति हो, ताकि इसे किसी अनुभव की आवश्यकता न हो? इसका अर्थ है एक ऐसा जीवन जो द्वंद्व से मुक्त हो, इसका अर्थ है—एक ऐसा मन जो अत्यधिक संवेदनशील एवं प्रज्ञावान हो, जिसको किसी ऐसी चीज की जरूरत नहीं है, जो इसको जगाए या चुनौती दे। ❖

प्रसंग : पर्युषण पर्व

आध्यात्मिक उपलब्धियों के लिए षडावश्यक

❋ मुनि मलयज ❋

अगस्त का यह महीना आध्यात्मिक साधना के लिए इस बार काफी महत्त्व रखता है। पर्युषण महापर्व और क्षमायाचना का दिन इसी महीने में है। पर्युषण पर्व के अवसर पर कुछ विशेष आध्यात्मिक प्रवृत्तियों की ओर झुकाव स्वाभाविक है। इस दृष्टि से प्रस्तुत आलेख काफी सहायक सिद्ध हो सकता है। अवसर विशेष पर मुनि मलयज का यह आलेख—

व्यक्ति दो तरह की सृष्टियों में अदल-बदल करता रहता है। जहां एक ओर उसका मन उसे बाह्य आकर्षणों की ओर पुरुषार्थ करने के लिए उत्प्रेरित करता रहता है, वहीं दूसरी ओर वह व्यक्ति अपनी जागरूकता, एकाग्रता और मानसिक नियंत्रण के माध्यम से स्वयं के चंचल आभ्यंतर अध्यवसायों को पुनः स्थिर करने का प्रयत्न भी यथासंभव करता रहता है। स्थिरीकरण की इस प्रक्रिया में निम्नोक्त लक्ष्यपूर्ण अवधारणा अत्यंत आवश्यक प्रतीत होती है—

'मैं शुद्ध चैतन्य स्वरूप हूं। आत्मा में, स्वयं में निवास करना, आंतरिक पक्ष के असीम आनंद का अनुभव करना, संपूर्ण संसार में घटित होने वाले संयोग-वियोगों को राग अथवा द्वेष से रहित होकर स्वीकार करना मेरा सहज स्वभाव है। इस स्वभाव का यथाशक्ति विकास करना मेरा कर्तव्य है।'

उक्त अवधारणा के अभाव में अंतश्चेतना की विशुद्धि अत्यंत दुष्कर मानी जा सकती है। जहां एक ओर यह भावधारा व्यक्ति के आंतरिक पक्ष को सुदृढ़ करती है, वहीं दूसरी ओर इस अंतर्मुखी उज्ज्वलता से अनुभावित उस व्यक्ति के संस्कार उसे बाह्य जगत के क्षणिक आकर्षणों से अप्रभावित रहने में उसका सहयोग भी करते हैं।

आत्मा के साक्षात्कार की दिशा में बढ़ने वाले व्यक्ति के लिए मानसिक संकल्प-शक्ति के साथ ही अनुप्रेक्षापूर्ण कायिक आचरण भी उतने ही महत्त्वपूर्ण होते हैं। एक दृष्टि से यह कहना उपयुक्त हो सकता है कि हमारे जीवन में होने वाली घटनाएं किसी न किसी माध्यम से हमारे अवचेतन मन से संबद्ध हैं। हमारा अवचेतन मन यदि संस्कारों का अक्षय-कोष भी कहलाया जाए तो संभवतः अतिशयोक्ति नहीं होगी। इस तथ्य का अवबोध होने के पश्चात् यह जिज्ञासा स्वाभाविक रूप से उभरती है कि जब संस्कार हमारे अवचेतन मन से बाह्य जगत में आ सकते हैं तो इन्हें विपरीत प्रक्रिया

के द्वारा मनोवांछित रूप से पुनः अवचेतन मस्तिष्क में कैसे पहुंचाया जा सकता है? आत्म-विशोधन के लिए जिन संस्कारों की, जिन साधना-तत्त्वों की आवश्यकता है, उन्हें किन प्रयोगों के माध्यम से किस प्रकार प्रकट किया जा सकता है? इन सभी प्रश्नों के समाधान की दृष्टि से अवचेतन मन का किंचित अवलोकन अपेक्षित प्रतीत होता है।

अवचेतन मस्तिष्क

हमारी मानसिक ऊर्जा तीन भागों में विभक्त है—(1) चेतन, (2) अवचेतन और (3) अचेतन। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अवचेतन तत्त्व की ऊर्जा सर्वाधिक प्रभावशाली मानी जाती है। ऊर्जा के इस विभाग में व्यक्ति की समस्त आकांक्षाओं की पूर्ति की सामर्थ्य एक सर्वमान्य तथ्य है। पुनश्चिंतन के माध्यम से व्यक्ति जो विचार अपने अवचेतन मन में डाल देता है, वे उसके संस्कारों के रूप में परिणत हो जाते हैं।

अनुप्रेक्षा का ऐसा प्रयोग अध्यात्म साधना का एक महत्त्वपूर्ण आयाम है। केवल चिंतनधारा के माध्यम से ही नहीं, अपितु प्रतिदिन क्रियान्वित की जाने वाली आत्म-शुद्धि की प्रक्रियाओं के निरंतर अभ्यास से भी अवचेतन मस्तिष्क के साधनामय आध्यात्मिक पक्ष को उजागर किया जा सकता है। इन प्रक्रियाओं के दैनंदिन क्रियान्वयन से व्यक्ति स्वयं अपनी आत्मा का साक्षात्कार कर सके, तो माना जा सकता है कि आध्यात्मिक परिप्रेक्ष्य में विद्यमान अवचेतन मस्तिष्क के संस्कार प्रस्फुटित होकर अपनी सार्थकता सिद्ध करने लगे हैं।

किसी भी साधना-पद्धति का अंतिम लक्ष्य आत्म-तत्त्व के साक्षात्कार को माना जा सकता है। आत्म-निरीक्षण की विभिन्न विधियों के द्वारा व्यक्ति स्वयं के प्रति अपनी नियंत्रण-शक्ति को वर्धमान कर सकता है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आगम-ग्रंथों में नानाविध विधियों का उल्लेख प्राप्त होता है। 'षडावश्यक' उन्हीं प्रक्रियाओं में से एक है।
भगवान महावीर की श्रमण परंपरा में स्वयं को पूर्ण रूप से समर्पित करने वाले व्यक्ति के लिए कुछ आवश्यक विधाओं का प्रयोग अनिवार्य माना गया है। इनकी संख्या छः होने से सहज ही—षट् (छः), सह आवश्यक, इति षडावश्यक—संज्ञा प्रयुक्त होने लगी।

षडावश्यक : एक आध्यात्मिक प्रक्रिया

जैन दर्शन के अनुसार किसी भी साधना-पद्धति का अंतिम लक्ष्य आत्म-तत्त्व के साक्षात्कार को माना जा सकता है। आत्म-निरीक्षण की विभिन्न विधियों के द्वारा व्यक्ति स्वयं के प्रति अपनी नियंत्रण-शक्ति को वर्धमान कर सकता है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आगम-ग्रंथों में नानाविध विधियों का उल्लेख प्राप्त होता है। **'षडावश्यक'** उन्हीं प्रक्रियाओं में से एक है।

भगवान महावीर की श्रमण परंपरा में स्वयं को पूर्ण रूप से समर्पित करने वाले व्यक्ति के लिए कुछ आवश्यक विधाओं का प्रयोग अनिवार्य माना गया है। इनकी संख्या छः होने से सहज ही—षट् (छः), सह आवश्यक, इति षडावश्यक—संज्ञा प्रयुक्त होने लगी। संक्षेप में इन तत्त्वों का अवलोकन इस प्रकार किया जा सकता है—

(1) **सामायिक** : आवश्यकों की शृंखला में पहला **आवश्यक** 'सामायिक' है। यहां से ऊर्ध्वारोहण की प्रक्रिया प्रारंभ होती है। इसके माध्यम से हम क्रोध-मान-माया-लोभ, राग-द्वेष, अहंकार-ममत्व आदि विकृत भावों से मुक्त होकर सम, संवेग, निर्वेद, अनुकंपा और आस्था के सम्यक् भावों में प्रवेश कर सकते हैं।

(2) **चउवीसत्थव (चतुर्विंशतिस्तव)** : जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है—चउवीसत्थव का अर्थ है—चौबीस तीर्थंकरों के गुणों का स्मरण व अपने आंतरिक गुणों का विकास। आज परिपाटी के रूप में दूसरा **आवश्यक** करते समय तीर्थंकरों का स्मरण 'लोगस्स' के पाठ से किया जाता है।

(3) **वंदना** : समभावी बनने और गुणदृष्टि जगाने के दो आवश्यक कार्यों को करने के पश्चात् इस **आवश्यक** के माध्यम से हम अपना संपूर्ण समर्पण गुणों के कोष पूज्य गुरुजनों के प्रति कर देते हैं। वंदन और नमन के द्वारा हम उनके गुणों को स्वयं में संक्रांत होने की स्वाभाविक याचना भी कर सकते हैं।

(4) **प्रतिक्रमण** : साधना की अपेक्षा से इस **आवश्यक** को अत्यधिक बल दिया जा सकता है। इसका कारण यह है कि व्यवहार-जीवन में स्वीकृत मर्यादाओं का उल्लंघन छद्मस्थ अवस्था में कभी भी संभव है। इस अतिक्रमण की दोष-विशुद्धि के रूप में प्रतिक्रमण अत्यंत सहायक प्रतीत होता है। शुद्ध अंतःकरण से इसे करने पर अनादिकालीन विभावों से मुक्त होकर आत्मा को पुनः स्वभाव में स्थित किया जा सकता है।

(5) **कायोत्सर्ग** : आगमोक्त नीति के अनुसार शरीर का त्याग (क्रिया विसर्जन और ममत्व विसर्जन) करना कायोत्सर्ग है। शरीर आदि में स्थिर भावों को छोड़ कर जो आत्मा को निर्विकल्प रूप से ध्याता है, उसे कायोत्सर्ग कहते हैं। उत्कृष्ट अवस्था में कर्मों के व्युत्सर्ग को 'त्याग-भावना' की अपेक्षा से कायोत्सर्ग के अंतर्गत भी माना गया है।

(6) **प्रत्याख्यान** : अपनी दिनचर्या और जीवन-व्यवहार को सीमाओं और मर्यादाओं में आबद्ध कर भगवद्गीता में वर्णित 'स्थितप्रज्ञ' के समकक्ष भूमिका में स्वयं को एक साधक के रूप में प्रस्थापित करना प्रत्याख्यान है। समस्त कार्यों में निर्लिप्त-निष्काम कर्मयोगी बनने में इस अंतिम **आवश्यक** का महत्त्वपूर्ण योगदान हो सकता है।

उपरोक्त संक्षिप्त विवेचन से ही अनुमान लगाया जा सकता है कि यह प्रक्रिया साधना की अभिन्न सहचरी है। इसके माध्यम से व्यक्ति अपनी साधना में कल्पनातीत उपलब्धियों को प्राप्त कर सकता है। ऐसा होने पर भी यह प्रश्न तो निरंतर विद्यमान है ही कि क्या **'षडावश्यक'** की क्रमबद्धता यथावत ही रहनी चाहिए अथवा इसमें भी कुछ परिवर्तन किया जा सकता है?

क्रमबद्धता की विशेषता

षडावश्यक की क्रमबद्धता कार्य-कारण भाव की शृंखला पर अवस्थित है। इसके सभी **आवश्यक** एक-दूसरे के पूरक होने के साथ ही एक-दूसरे में अनुस्यूत हो, ऐसा प्रतीत होता है। आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रवेश करने के लिए सर्वप्रथम जीवन में समता का होना आवश्यक है। समभाव को ग्रहण करने वाला व्यक्ति समता के सर्वोत्कृष्ट आराधक वीतराग भगवान के गुणों को उत्कीर्तित करते हुए उन्हें आत्मसात करने का प्रयत्न कर सकता है। इसलिए **सामायिक आवश्यक** के पश्चात् **चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक** की उपयोगिता स्वतः सिद्ध हो जाती है।

गुणग्राही व्यक्ति ही अपने से अधिक ज्ञानवान अथवा वंदनीय चारित्रात्मा के चरणों में शीश नवा सकता है। भाव-वंदना के इस आचरण से अहंकार का विलय तो होता ही है, साथ-ही-साथ ऋजुता का विकास भी होता है। सरल व्यक्ति ही कृत दोषों की आलोचना कर सकता है। दूसरे शब्दों में कहें तो कृत कर्मों के प्रायश्चित्त के लिए माया-रहित प्रकृति नितांत अपेक्षित है। इन्हीं तथ्यों से अनुमान लगाया जा सकता है कि जैसे गुणग्राहकता, सरलता और दोष-विशुद्धि में पारस्परिक साहचर्य है, वैसे ही **तृतीय आवश्यक** (वंदना) के पश्चात् आने वाले **प्रतिक्रमण आवश्यक** एवं **पंचम आवश्यक** में भी पूर्ण सामंजस्य है। इसका कारण यह है कि एक ओर जहां पर्यालोचन के लिए गुरु की अपेक्षा प्रतीत होती है, वहीं दूसरी ओर दोषों का परिमार्जन करने के लिए तन-मन की स्थिरता आवश्यक है। वह कायोत्सर्ग की स्थिति में ही संभव है। माना जा सकता है कि उपरोक्त कारण से ही कायोत्सर्ग को **पंचम आवश्यक** के रूप में स्वीकार किया गया है।

कायोत्सर्ग से जब व्यक्ति की एकाग्रता और स्थिरता सध जाती है, तब एक ऐसी भूमिका का निर्माण होता है, जिससे अतीत के कर्मार्जन की प्रवृत्ति से भविष्य में बचा जा सके। इस उद्देश्य की पूर्ति की दृष्टि से **षडावश्यक** का **अंतिम आवश्यक—प्रत्याख्यान** अपनी सार्थकता सहज रूप से जतला देता है। यही वह **आवश्यक** है, जिसमें व्यक्ति भविष्य में भोगों की सीमा हेतु संयमित होने का व्रत धारण करता है। उपरोक्त तथ्यों से हम संभवतः इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि **साधना से समता, समता से गुणोत्कीर्तन, गुणोत्कीर्तन से वंदना, वंदना से प्रतिक्रमण, प्रतिक्रमण से निश्चेष्टता एवं निश्चेष्टता से भोगों का सीमाकरण** सहज ही प्रतिफलित हो जाता है।

षडावश्यक की अर्हताएं

जहां संयम की पूर्ण आराधना का प्रश्न उठता है तो जैन अवधारणा के अनुसार पांच महाव्रतों की अनुपालना को अनिवार्य माना गया है। इससे यह माना जा सकता है कि एक अपेक्षा से पूर्ण संयम के लिए पंच-महाव्रतधारी

श्रमण की अर्हता को 'मानक' के रूप में स्वीकार किया गया है। इसी के समान **षडावश्यक** के प्रत्येक **आवश्यक** के संदर्भ में विभिन्न प्रकार की अर्हताओं को स्वीकृति दी गई है। इन अर्हताओं को समझने के लिए हमें हर **आवश्यक** के संदर्भ में इनका अनुशीलन करना होगा। हम इन्हें भी देखें—

सामायिक की अर्हता : सिद्धांत की भाषा में पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावक सामायिक कर सकता है। व्यावहारिक दृष्टि से जो व्यक्ति समता की उपासना करता है, समता की साधना में जिसका विश्वास है, अथवा समता को विकसित करने की उत्कंठा जिस व्यक्ति में है, वह सामायिक की आराधना कर सकता है। सामायिक की अर्हताओं की दृष्टि से निम्नोक्त बिंदु भी विमर्शनीय हैं—

- **परीषहों पर विजय प्राप्त करना।**
- **स्व तथा अन्य आत्माओं पर समदृष्टि रखना।**
- **प्रिय-अप्रिय एवं मान-अपमान आदि परिस्थितियों में सम रहना।**
- **सर्व सावद्य (पापकारी) प्रवृत्तियों से विरत रहना।**
- **तीन गुप्तियों से गुप्त तथा जितेंद्रिय रहना।**

उपर्युक्त अर्हताओं के विकास से व्यक्ति उत्तम सामायिक की आराधना कर सकता है।

चतुर्विंशतिस्तव की अर्हता : तात्त्विक दृष्टि से अन्वेषण करें तो यह कहा जा सकता है कि **द्वितीय आवश्यक** के लिए निर्मल चेतना की अत्यंत अपेक्षा है। जल जितना अधिक निर्मल होगा, प्रतिबिंब उतना ही स्पष्ट रूप से उभर सकेगा। ठीक इसी प्रकार इस **आवश्यक** में तल्लीन होने वाले व्यक्ति की विचारधारा जितनी अधिक पवित्र होगी, वह उतनी ही उत्कृष्ट अवस्था में न केवल तीर्थंकरों का गुणगान कर सकता है, अपितु उन गुणों को स्वयं में आश्रय प्रदान कर स्वयं की साधना में सफलता प्राप्त कर सकता है। समीकरण करने पर यह कहना समुचित होगा कि व्यक्ति का सम्यक् दर्शन जितना अधिक सुदृढ़ होगा, **चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक** उसके लिए उतना ही अधिक लाभकारी सिद्ध हो सकेगा।

वंदना की अर्हता : वंदना **आवश्यक** की प्रारंभिक अर्हताओं में एक अर्हता है। यह अहंकार का विसर्जन है। जिस व्यक्ति का मान-कषाय मंद नहीं है, तो मानना चाहिए कि उस व्यक्ति की साधना में कुछ अधिक परिपुष्टता की अपेक्षा है। **वंदना आवश्यक** की आराधना करने वाले व्यक्ति का मूलभूत लक्ष्य निर्जरा ही हो, यह नितांत अपेक्षित है। वह व्यक्ति धर्म में उत्साही व उद्यमी होता है। मूल तथ्य तो यह है कि उस व्यक्ति की चेतना इतनी अधिक प्रबुद्ध होती है कि उसे मात्र वंदना करने से ही संतोष प्राप्त हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि उसे वंदना के प्रतिफल की आकांक्षा नहीं रहती। इससे सहज ही यह आकलन किया जा सकता है कि उस व्यक्ति के अध्यवसाय कितने विशुद्ध हैं। यही अध्यवसाय उसे परीषहों को जीतने में भी महत्त्वपूर्ण सहयोग देते हैं।

प्रतिक्रमण की अर्हता : चतुर्थ **आवश्यक** में जब व्यक्ति अपने पूर्वकृत दोषों के प्रायश्चित्त हेतु गुरुचरणों में निवेदन करता है, तब उसकी अंतःस्थिति क्या होती है—यह देखा जाता है। यह एक रोचक स्थिति है। अपने दोषों को स्वीकार करने वाले साधक में जो प्राथमिक गुण पाया जाता है, वह है—सरलता। सरलता के साथ ही दोषों के पर्यालोचन में यह अपेक्षित है कि वह व्यक्ति निश्छलतापूर्वक अपनी बात रखे। गुरु के सामने निष्कपट रूप से अपनी प्रमादपूर्ण अवस्थाओं का कथन कर उनकी पर्यालोचना करने वाले साधक की आत्मा उसी प्रकार उज्ज्वल बनती है, जिस प्रकार कोई गृहस्थ स्नान कर स्वच्छता की, निर्मलता की अनुभूति करता है। संक्षेप में कहें तो जो साधक ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि से संपन्न, क्षांत, दांत, अमायावी व पश्चात्तापी होगा—वही अपने दोषों को स्वीकार करेगा, उनकी आलोचना करेगा।

कायोत्सर्ग की अर्हता : कायोत्सर्ग कौन कर सकता है? कायोत्सर्ग करने के लिए व्यक्ति को किन गुणों का विकास करना चाहिए? इन प्रश्नों के संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि कायोत्सर्ग की मूलभूत अर्हताएं सिद्ध करने के लिए व्यक्ति को निम्नोक्त आभ्यंतर तत्त्वों को प्राप्त करना होता है—

- **वह मायाचार से रहित हो।**
- **वह वीर्य का गोपन न करे।**
- **वह शांत प्रकृति वाला हो।**
- **वह स्थिरयोगी हो।**

- वह चारित्र के प्रति सतत जागरूक रहने वाला हो।
- वह विशिष्ट ज्ञान का अधिकारी हो।
- वह सुधीर हो।
- वह सहिष्णु हो।
- वह देह के प्रति अनासक्त हो।

इन सभी गुणों के साथ समभाव का विकास होने पर यह माना जा सकता है कि उस व्यक्ति के लिए **कायोत्सर्ग आवश्यक** के दौरान न्यूनतम बाधा भी संभवतः नहीं आ सकेगी।

प्रत्याख्यान की अर्हता : प्रत्याख्यान विधि के ज्ञाता मूलगुण, उत्तरगुण तथा श्रद्धा आदि की शुद्धि से संपन्न, कृतिकर्म आदि विनयविधि में कुशल, शुद्ध भावधारा से युक्त, मोक्ष का अभिलाषी और दृढ़प्रतिज्ञ साधक **प्रत्याख्यान आवश्यक** की अर्हताओं से परिपूर्ण माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त जो व्यक्ति जीव और कर्म के भेद का अभ्यास करके अनित्य आदि भावनाओं का संप्रेषण करता है, प्रत्याख्यान ग्रहण करने का अधिकारी वही होता है—ऐसी संभावनाएं हैं। तत्त्वज्ञान की अपेक्षा से जो व्यक्ति व्रत-संवर की यथाशक्ति आराधना व अनुपालना करता है, उसे **प्रत्याख्यान आवश्यक** के मार्ग पर प्रगति करने में सुगमता का अनुभव होता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सामायिक से समभाव, चतुर्विंशतिस्तव से सम्यक्त्व, वंदना से विनम्रता, प्रतिक्रमण से ऋजुता, कायोत्सर्ग से समाधिपूर्ण स्थिरता और प्रत्याख्यान से अनासक्ति की चेतना का जागरण होता है। कहा जा सकता है कि ये गुण इन **छः आवश्यकों** को सफल एवं सुफल बनाने में अत्यंत सहायक हो सकते हैं।

यहां यह तथ्य भी अवलोकनीय है कि जिस प्रकार **षडावश्यक** के लिए एक साधक से कुछ अपेक्षाएं की जाती हैं, उसी प्रकार एक साधक या व्यक्ति **षडावश्यक** से क्या अपेक्षा कर सकता है? कहने का तात्पर्य यह है कि **षडावश्यक** के माध्यम से एक साधक क्या प्राप्त कर सकता है? दूसरे शब्दों में कहें तो **षडावश्यक** के द्वारा व्यक्ति अध्यात्म के किन रहस्यों को हस्तगत कर सकता है? आत्मान्वेषण की इस प्रक्रिया के लाभों पर दृष्टिपात करना भी अपेक्षित प्रतीत हो रहा है।

षडावश्यक के लाभ

व्यक्ति कोई भी कार्य करता है तो उसका मानस प्रतिफल की ओर सहज ही आकृष्ट होता है। एक अपेक्षा से माना जा सकता है कि प्रतिफल की यह आकांक्षा कई बार एक प्रेरणा के रूप में भी कार्य करती है। इस दृष्टि से **षडावश्यक** के प्रत्येक **आवश्यक** से मिलने वाले आध्यात्मिक प्रतिफल पर अनुचिंतन करना अपेक्षित है।

सामायिक के लाभ : सामायिक के माध्यम से व्यक्ति समता के ध्येय को उपलब्ध होता है। यह कहा जा सकता है कि सामायिक की साधना शांति और मानसिक संतुलन की साधना है। जो क्षण कषाय से मुक्त हो शांतिपूर्वक व्यतीत होते हैं, वह सामायिक है। समता के सागर को हस्तगत कर उसमें डुबकी लगाने वाला व्यक्ति आत्मानंद की अनुभूति को प्राप्त करता है। केवल इतना ही नहीं, सामायिक के द्वारा आत्मशक्तियों का केंद्रीकरण कर ऊर्जा का संचयन भी किया जा सकता है। इस संचयन से व्यक्ति अपनी कल्पना-शक्ति, इच्छा-शक्ति, एकाग्रता-शक्ति और आत्मलीनता की शक्ति का उत्कृष्ट प्रयोग कर सकता है। संक्षेप में यह कहना उचित होगा कि समता के माध्यम से व्यक्ति अपनी आभ्यंतर ऊर्जा का जागरण कर **सामायिक आवश्यक** की साधना को सुफल बना सकता है।

चतुर्विंशतिस्तव के लाभ : चतुर्विंशतिस्तव के दौरान भक्ति-रस में तल्लीन हुआ व्यक्ति अपने पूर्वकृत पाप-कर्मों का स्वतः ही सर्वनाश कर देता है। जब वह राग और द्वेष को जीतने वाले तीर्थंकरों का अनुस्मरण करता है, तब उसके लिए एक नवीन आयाम प्रकट होता है, जो उसके आरोग्य, बोधि और समाधि-मरण में अहम भूमिका निभा सकते हैं। साथ ही साथ अर्हतों की अर्चा के द्वारा व्यक्ति अपनी दुर्गति का निवारण, आपदाओं का शमन और प्रीतिकर भावना को संपुष्ट कर सकता है। सार रूप में यह भी कहा जा सकता है कि **'लोगस्स'** की उपासना से व्यक्ति यह प्रयत्न करता है कि तीर्थंकरों का अनुसरण करते हुए वह भी साधना में गतिशील बने और संसार से मुक्त होकर सिद्ध स्वरूप को प्राप्त करे।

वंदना के लाभ : वंदना **आवश्यक** की आराधना से नीच कुल में उत्पन्न करने वाले कर्मों को क्षीण किया

जा सकता है और उच्च कुल में उत्पन्न करने वाले कर्मों का अर्जन हो सकता है। जिसकी आज्ञा को लोग शिरोधार्य करते हैं, वैसा अबाधित सौभाग्य और अनुकूल भावना को प्राप्त करता है। जहां तक आत्मिक गुणों का प्रश्न है—वंदना के माध्यम से विनम्रता का विकास होता है और अहंकार का नाश होता है। एक अवस्था ऐसी भी आ सकती है, जब व्यक्ति समस्त गोत्रों से मुक्त होकर आत्म-स्वरूप को प्राप्त कर ले। ऐसी स्थिति में माना जा सकता है कि **वंदना आवश्यक** की प्रक्रिया पूर्ण रूप से सार्थक हो गई है।

प्रतिक्रमण के लाभ : प्रतिक्रमण **आवश्यक** की आसेवना के द्वारा जीव मूलतः छः प्रकार के लाभों को प्राप्त करता है। वे छः प्रकार के लाभ इस प्रकार हैं—(1) व्रतों को स्वीकार करने वाला साधक छद्मस्थ अवस्था के कारण जब कभी उनसे च्युत हो जाए, तब कृत दोष की विशोधि के लिए **प्रतिक्रमण आवश्यक** एक कारगर उपाय होता है। (2) व्रतों की दोषपूर्ण अवस्था अर्थात् गड्ढ़ों को भरने के साथ-साथ व्यक्ति पुनः दोष सेवन के मार्ग अथवा कर्मार्जन के मार्ग—आश्रव का भी निरोध कर देता है। (3) चारित्राचार में पुरुषार्थ करने वाला व्यक्ति जब चारित्र की चादर पर जाने-अनजाने प्रमाद के धब्बे लगा बैठता है, तब उन धब्बों को मिटा कर चारित्र की चादर को पुनः उज्ज्वल करने में प्रतिक्रमण की अहम भूमिका होती है। (4) प्रतिक्रमण के द्वारा एक साधक पांच समितियों और तीन गुप्तियों के प्रति अपनी जागरूकता को वृद्धिंगत कर देता है। (5) प्रतिक्रमण के माध्यम से व्यक्ति अपनी संयमित जीवनशैली में और अधिक तल्लीन हो जाता है। (6) प्रतिक्रमण की साधना से व्यक्ति समाधिमय मानसिकता से संयमित शैली में विहार कर सकता है।

उपरोक्त बिंदुओं के आधार पर यह अनुमान लगाना कठिन नहीं है कि प्रतिक्रमण एक साधक के लिए कितना अधिक अपेक्षित और लाभकारी है।

कायोत्सर्ग के लाभ : कायोत्सर्ग को आत्मा का प्रवेश-द्वार कहना एक अपेक्षा से उचित ही है। इसके माध्यम से व्यक्ति भेद-अभेद के विवेक को जागृत कर लेता है। वह अनुभव करने लगता है कि आत्मा और शरीर—दोनों एक-दूसरे से भिन्न, अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखते हैं। स्थूल परिणामों की ओर ध्यान दें, तो कायोत्सर्ग के द्वारा मानसिक शांति की उपलब्धि होती है। इसके निरंतर अभ्यास से व्यक्ति सूक्ष्म शरीर में होने वाले स्पंदनों का अनुभव भी कर सकता है। प्रगाढ़ अवस्था में साधक को आभामंडल का दर्शन भी हो जाए, इस संभावना से भी इनकार नहीं किया जा सकता। शरीर के प्रति होने वाले ममत्व और आसक्ति से मुक्त होने का कायोत्सर्ग एक सशक्त उपाय है। इसके द्वारा व्यक्ति आत्मा की शुद्ध अवस्था की पूर्वानुभूति भी कर सकता है।

प्रत्याख्यान के लाभ : प्रत्याख्यान **आवश्यक** की विधिवत अनुपालना से व्यक्ति संवर की चेतना को संपुष्ट कर सकता है। इसके परिणामस्वरूप तृष्णा के मनोविकार में क्षीणता आ जाती है। विषयों के प्रति होने वाली अभिलाषा से निवृत्त होने पर व्यक्ति उपशम की साधना में अग्रसर हो सकता है। कर्मों के विलय की प्रक्रिया की सहायता लेकर वह आत्मोपलब्धि की उन श्रेणियों पर आरोहण कर लेता है, जिनका पहले कभी साक्षात्कार न हुआ हो। इसी कारण से श्रेणी-आरोहण के इस परिश्रम को 'अपूर्वकरण' भी कहा जाता है। अंतिम परिणति के रूप में कैवल्य को प्राप्त करता हुआ वह व्यक्ति आत्म-स्वरूप में अवस्थित हो जाता है।

निष्कर्षतः कह सकते हैं कि हर आत्मा प्रयत्न करने पर परमात्मा बन सकती है, यह एक प्रचलित अवधारणा है। **षडावश्यक** ऐसी ही एक प्रक्रिया है, जिससे व्यक्ति अपना आत्म-साक्षात्कार कर सकता है। इसमें अपेक्षा यह है कि व्यक्ति आत्मानुभूति में तल्लीन हो जाए। आध्यात्मिक उपलब्धियों के उद्देश्य की पूर्ति के लिए **षडावश्यक** एक अचूक माध्यम है। व्यक्ति जितनी अधिक निर्मल भावधारा से इस प्रक्रिया का प्रयोग करेगा, वह इस प्रयोग से उतना ही अधिक लाभ उठा सकेगा। लाभ की पराकाष्ठा यह होगी कि—व्यक्ति अपने चैतसिक स्वरूप में सिद्धशिला पर विराजमान हो जाए। इस अवस्था में पहुंचने के लिए सर्वप्रथम इस जिज्ञासा को समाहित करना होगा—**'क्या मैं सिद्ध होना चाहता हूं?'** गौरतलब है कि इस प्रश्न का समाधान जागृत आभ्यंतर चेतना ही दे सकती है। इसके अतिरिक्त और कोई नहीं। ❖

जैन दर्शन में विश्व : स्वरूप एवं संरचना

※ प्रो. मुनि महेंद्रकुमार ※

इस विश्व को 'लोक' कहा गया है। काल की दृष्टि से यह लोक अनादि और अनंत है। यह लोक पांच अस्तिकाय और एक काल—इस तरह छह द्रव्यों का एक समवाय है। ये छहों द्रव्य अस्तिंत्व की दृष्टि से शाश्वत हैं और पर्याय (अवस्था) की दृष्टि से परिवर्तनशील हैं। जैन तत्त्व मीमांसा (Metaphysics) में इस प्रकार का एक तर्क-संगत सिद्धांत प्रस्तुत किया गया है। इसका सुंदर विवेचन आचार्यश्री तुलसी द्वारा रचित पुस्तक श्री जैन सिद्धांत दीपिका में प्रथम अध्ययन के सूत्र 1 से 10 तक किया गया है।

जैन दर्शन में पारमार्थिक सत्य (Categories of truth) के रूप में नव तत्त्व प्रतिपादित हैं—1. जीव, 2. अजीव, 3. पुण्य, 4. पाप, 5. आश्रव, 6. संवर, 7. निर्जरा, 8. बंध, 9. मोक्ष। इनमें से तीसरे, चौथे और आठवें को एक मानने से यह संख्या सात हो जाती हैं। ये नव तत्त्व पारमार्थिक सत्य के निरूपण के रूप में हैं, न कि सृष्टि-निर्माता पदार्थ के रूप में। लोक (सृष्टि) के निर्माता तत्त्व तो छह द्रव्य ही हैं। ये छह द्रव्य हैं—1. **धर्मास्तिकाय**—गति के माध्यम के रूप में काम आने वाला सर्वलोकव्यापी द्रव्य, जो अजीव है और अमूर्त है। 2. **अधर्मास्तिकाय** — स्थिति (स्थिरता) के माध्यम के रूप में काम आने वाला सर्वलोकव्यापी द्रव्य, जो अजीव है और अमूर्त है। 3. **आकाशास्तिकाय**—अन्य सभी द्रव्यों को अवकाश देने वाला लोक और अलोकव्यापी द्रव्य, जो अजीव है और अमूर्त है। 4. **पुद्गलास्तिकाय**—स्पर्श, रस, गंध और वर्ण—इन चार भौतिक गुणों का धारक द्रव्य, जो अजीव है और मूर्त है। परमाणु इसी द्रव्य की इकाई है। जैन दर्शन का परमाणुवाद बहुत विस्तृत रूप में व्याख्यायित है और कालक्रम की दृष्टि से विश्व में सबसे प्राचीन परमाणुवाद है। कणाद का वैशेषिक दर्शन और 'डेमोक्रिटस' का परमाणुवाद—ये दोनों जैन दर्शन द्वारा प्ररूपित परमाणुवाद से कालक्रम की दृष्टि से अर्वाचीन हैं, पर विस्तार की दृष्टि से उतने विस्तृत नहीं हैं। 5. **जीवास्तिकाय**—चैतन्य-लक्षण युक्त द्रव्य, जो जीव है और अमूर्त है। 6. **कालद्रव्य**—वर्तना; अर्थात् परिवर्तन का सूचक द्रव्य है, जो अजीव है और अमूर्त है।

यह लोक पांच अस्तिकाय और एक काल—इस तरह छह द्रव्यों का एक समवाय है। ये छहों द्रव्य अस्तित्व की दृष्टि से शाश्वत हैं और पर्याय (अवस्था) की दृष्टि से परिवर्तनशील हैं। जैन तत्त्व मीमांसा (Metaphysics) में इस प्रकार का एक तर्क-संगत सिद्धांत प्रस्तुत किया गया है। इसका सुंदर विवेचन आचार्यश्री तुलसी द्वारा रचित पुस्तक श्री जैन सिद्धांत दीपिका में प्रथम अध्ययन के सूत्र 1 से 10 तक किया गया है।

इन छहों द्रव्यों का समवाय ही लोक है, जो काल की दृष्टि से आदिरहित भी है और अंतरहित भी है। इन छहों द्रव्यों के निरंतर परिणमन (transformation) को ही सृष्टि कहा गया है।

जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव थे और चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर थे। भारतीय इतिहास में इस तथ्य को सर्वसम्मति से स्वीकार किया गया है। जैन धर्म प्रारंभ से ही श्रमण-परंपरा से सम्बद्ध है और वैदिक परंपरा इससे सर्वथा भिन्न है।

उपर्युक्त तथ्यों के पुष्ट प्रमाण जैन आगम-वांग्मय में भरे हुए हैं। साथ ही अनेक अन्य ग्रंथों से भी इसकी पुष्टि होती है। कतिपय आगमों एवं ग्रंथों के नाम इस प्रकार हैं—

जैन आगम (श्वेतांबर-परंपरा)

1. सूयगडो (सूत्रकृतांग),
2. भगवई विआहपण्णत्ती (भगवती व्याख्याप्रज्ञप्ति),
3. पण्णवणा (प्रज्ञापना),
4. जीवाजीवाभिगम,
5. उत्तरज्झयणाणि (उत्तराध्ययन) आदि।

दिगंबर-परंपरा

1. षट्खंडागम, 2. पंचास्तिकायसार, 3. तिलोयपण्णत्ती आदि।

'ब्रह्मांड की उत्पत्ति' को लेकर जुलाई, 2012 के दूसरे सप्ताह में जब चौंकाने वाली बातें सामने आई थीं, तब यह माना गया कि ब्रह्मांड की उत्पत्ति की महापहेली अब सुलझ जाएगी। इसी प्रसंग पर जैन दर्शन में जो विवेचना हो चुकी है, प्रस्तुत आलेख में प्रो. मुनि महेंद्रकुमारजी ने जैन भारती के पाठकों के लिए इसे पुनः स्पष्ट किया है। प्रो. मुनि महेंद्रकुमारजी तेरापंथ धर्म-संघ के वर्तमान अधिष्ठाता आचार्यश्री महाश्रमणजी के आज्ञानुवर्ती हैं। सन् 1957 में मुंबई विश्वविद्यालय से भौतिक शास्त्र में स्नातक (ऑनर्स) की उपाधि ग्रहण करने के बाद उन्होंने मुनिदीक्षा ग्रहण की। मुनि महेंद्रकुमारजी का यह वैज्ञानिक आधार कालांतर में इतिहास, प्राच्य विद्या, दर्शन तथा संस्कृति का सुदृढ़ आधार भी बन गया। 'आगम-मनीषी' की महती उपाधि से विभूषित प्रो. मुनि महेंद्रकुमारजी विज्ञान और दर्शन के तुलनात्मक अध्ययन में विगत लंबे समय से शोधरत हैं। आप आचार्यश्री महाश्रमणजी द्वारा गठित 'बहुश्रुत परिषद' के भी मान्य सदस्य हैं। 'ब्रह्मांड की उत्पत्ति' के प्रश्न पर जहां दुनिया भर में चर्चा है, तो जैन भारती के पाठकों के लिए भी इस पर चर्चा-परिचर्चा होना प्रासंगिक माना गया है। इस विषय पर हम सुधी विद्वज्जनों की प्रतिक्रियाएं भी आदरपूर्वक आमंत्रित करते हैं।—सं.)

अन्य जैन ग्रंथ

1. तत्त्वार्थाधिगम सूत्र (उमास्वाति) एवं उसकी टीकाएं, 2. बृहद् द्रव्यसंग्रह (नेमिचंद्र सिद्धांत चक्रवर्ती), 3. गोम्मटसार (नेमिचंद्र सिद्धांत चक्रवर्ती), 4. लोकप्रकाश (विनयविजयगणी)।

आधुनिक विद्वानों के ग्रंथ

1. श्री जैन सिद्धांत दीपिका (आचार्यश्री तुलसी), 2. जैन दर्शन : मनन और मीमांसा (आचार्यश्री महाप्रज्ञ), 3. उत्तराध्ययन : एक समीक्षात्मक अध्ययन (आचार्यश्री महाप्रज्ञ), 4. The Doctrines of the Jainas (W. Schubring), 5. Cosmology : Old & New (Prof. G.R. Jain), 6. The Enigma of the Universe (Prof. Muni Mahendra Kumar)

उपरोक्त तथ्यों व ग्रंथों के अवलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन मत के अनुसार यह सृष्टि या लोक छह द्रव्यों का ही समवाय है। इसमें किसी प्रकार की भ्रांति प्रतीत नहीं होती। ये सभी तत्त्व शाश्वत माने गए हैं। यदि किन्हीं विद्वानों को संशय हो तो उन्हें उपर्युक्त ग्रंथों का अवलोकन कर लेना चाहिए। इन ग्रंथों से उनके संशय दूर हो जाने की आशा है। ❖

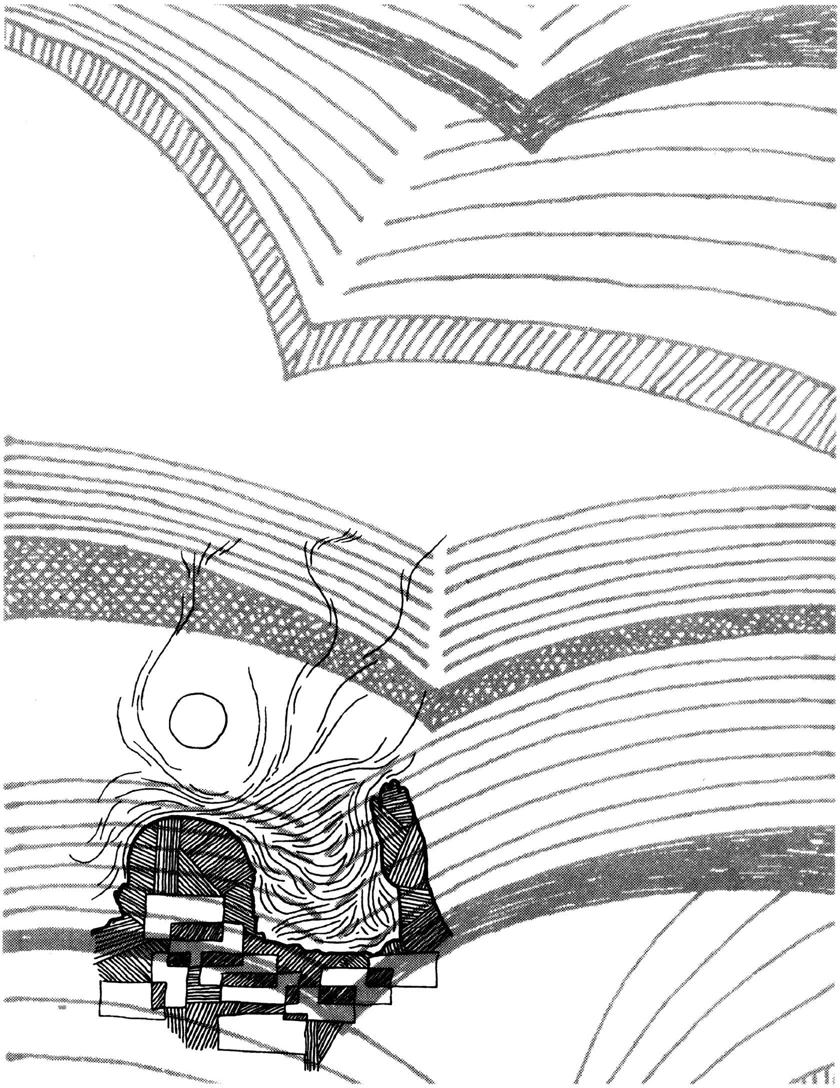

अनुभूति

मैं तुममें देखता हूं वह मुहाना
जो अपने को विशालता से विस्तार देता
और फैलाता है,
जब वह अपने को विराट सागर में
उड़ेलता है।

—वाल्ट ह्विटमैन

अनुवाद : **दिनेश्वरप्रसाद**

दो लोकोपयोगी ग्रंथों की तुलनात्मक विवेचना

जितेंद्रिय बनाता है निरोध और निग्रह का अभ्यास

❀ आचार्यश्री महाश्रमण ❀

केवल मनुष्य ही नहीं, प्रत्येक शरीरधारी प्राणी अपने आप को टिकाए रखने के लिए, या जीवन जीने के लिए प्रवृत्ति करता ही है। प्रवृत्ति होती है, तो बंधन भी होता है। एक साधक के सामने यह समस्या होती है कि जीना है—तो प्रवृत्ति करनी होगी और प्रवृत्ति करेगा तो कर्मों का बंध होगा। कर्मों के बंधन से संसार में भ्रमण भी करना पड़ेगा। यह स्पष्ट है कि शरीर की प्रवृत्ति को छोड़ा नहीं जा सकता। ऐसी स्थिति में उसे क्या करना चाहिए? कौन-सा रास्ता ऐसा हो सकता है कि प्रवृत्ति भी हो सके और बंधन से भी बचा जा सके? श्रीमद्भगवद्गीता में इस संदर्भ में मार्गदर्शन देते हुए कहा गया है—

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते।।5/7।।

जिसका मन अपने वश में है, जो जितेंद्रिय एवं विशुद्ध अंतःकरण वाला है और संपूर्ण प्राणियों का आत्मरूप परमात्मा ही जिसकी आत्मा है—ऐसा कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी लिप्त नहीं होता।

जिसमें निर्मल प्रज्ञा का विकास होता है, जिसमें अनासक्ति का भाव और वीतरागता आ जाती है—उसके ईर्यापथिक बंध होता है। यह ईर्यापथ-बंध क्या है? यह वीतराग के होने वाला और दो समय की स्थिति वाला बंध है। प्रथम समय में कर्म का बंधन होता है और दूसरे समय में उसका फल भोग लिया जाता है। फिर वह कर्म नष्ट हो जाता है। इसलिए इसको बंध भी कहा जा सकता है और अबंध जैसा भी कहा जा सकता है। गीताकार ने कहा है—कर्म करते हुए जो निष्काम है, अनासक्त है, आत्मलीन है, वीतराग है—उसको कर्म बांध नहीं सकते। उसके पापकर्मों का तो बंध होगा ही नहीं, पुण्य कर्म का बंध भी बहुत अल्पकालिक होगा। जो आत्मवान हो गया, आत्मा ही जिसका मुख्य लक्ष्य बन गया, ऐसे व्यक्ति के कर्मों का बंध नहीं होता।

जो प्रवृत्ति करते हुए भी लिप्त नहीं होता, वह बंधन से भी बहुत हद तक बच सकता है। जिसके पास पांच इंद्रियां हैं, वह पंचेंद्रिय कहा जाता है। जितेंद्रिय वही होता है, जो इन इंद्रियों पर काबू कर लेता है। मनुस्मृति में कहा गया—

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च,
भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः।
न हृष्यति न ग्लायति वा,
सः विज्ञेयो जितेन्द्रियः।।

जो व्यक्ति कुछ सुन कर, किसी का स्पर्श कर, किसी को देख कर, कुछ खा कर और सूंघ कर इंद्रिय-विषयों के प्रति न ग्लानि, न हर्ष, न राग, न द्वेष करता है, वह व्यक्ति जितेंद्रिय कहा जाता है।

उत्तराध्ययन सूत्र के बत्तीसवें अध्ययन में भी इंद्रिय-विषयों का विस्तृत विवेचन किया गया है। वहां इंद्रिय-विषयों के प्रति राग-द्वेष न करने की और राग-द्वेष करने से होने वाले नुकसान की बात बड़े सुंदर तरीके के साथ प्रस्तुत की गई है।

कहा गया है—

जे इंदियाणं विसया मणुण्णा,
न तेसु भावं निसिरे कयाइ।
न या मणुण्णेसु मणं पि कुज्जा,
समाहिकामे समणे तवस्सी।।32/21।।

समाधि चाहने वाला तपस्वी श्रमण इंद्रियों के जो मनोज्ञ विषय हैं, उनकी ओर भी मन न करे, यानी राग न करे और जो अमनोज्ञ विषय हैं—उनकी ओर भी मन न करे, यानी द्वेष न करे।

जितेंद्रिय बनने का अभ्यास करने के लिए इंद्रियों का निरोध किया जाना चाहिए, निग्रह भी। **ओवाइयं सुत्तं** में पांच इंद्रियों के निरोध और निग्रह का सुंदर चित्रण किया गया है। इंद्रियों की प्रवृत्ति न करना इंद्रिय-निरोध है और इंद्रिय-विषय के प्रति राग-द्वेष न करना इंद्रिय-निग्रह है।

इस जगत में ध्यान की चर्चा बहुत चलती है। ध्यान का प्रयोग करते समय इंद्रिय-निरोध स्वतः हो जाता है। प्रेक्षाध्यान का प्रयोग करते समय कायगुप्ति की जाती है। उसमें आंखें बंद कर मन को श्वास पर टिकाया जाता है, इससे इंद्रिय-निरोध होता है। अन्य ध्यान पद्धतियों में भी इंद्रियों का निरोध होता है।

जैन वाङ्मय के **ओवाइयं सुत्तं** में अनासक्ति की साधना के दो उपाय निर्दिष्ट किए गए हैं। पहला निर्देश है—इंद्रिय-विषय के प्रसार का निरोध करो, इंद्रिय-विषयों में मत जाओ। हमारे मन के अनुकूल प्रशंसात्मक शब्द आ रहे हैं, पर हमने कानों को बंद कर दिया या सुनने में ध्यान नहीं दिया—यह श्रोत्रेंद्रिय-विषय-प्रसार-

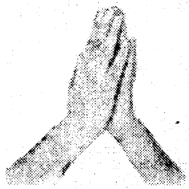

पर्युषण

आध्यात्मिक ऊर्जा के लिए आराधना

❑ आचार्यश्री महाश्रमण ❑

जैन धर्म आत्मवादी धर्म है। आत्मा उसका केंद्रीय तत्त्व है। जैन आचार और विचार की प्रायः सभी अवधारणाएं उसी की परिधि में अवस्थित हैं। जैन दर्शन में प्रत्येक आत्मा का स्वतंत्र और त्रैकालिक अस्तित्व सम्मत है। वह सदा थी, सदा है और सदा रहेगी। वह अपने मूल स्वरूप में शुद्ध, अमूर्त, ज्योतिर्मय और निरामय है। वह अपने उत्तर अथवा आरोपित स्वरूप में अशुद्ध, मूर्त, अंधकारमय और सामय (सरोग) भी है। वह सुख-दुख का अनुभव करती है। वह स्वयं उसकी विधाता है। वह नाना योनियों में परिसंचरण करती हुई कभी मनुष्य योनि में भी पहुंच जाती है। मनुष्य जन्म रूपी वृक्ष के छह फल बताए गए हैं—

जिनेंद्रपूजा गुरुपर्युपास्तिः, सत्त्वानुकंपा शुभपात्रदानम्।
गुणानुरागः श्रुतिरागमस्य, नृजन्मवृक्षस्य फलान्यमूनि।।

1. जिनेंद्रपूजा—वीतराग तीर्थंकरों के प्रति भक्ति। 2. गुरु-उपासना—धर्मगुरुओं की उपासना-सेवा। 3. सत्त्वानुकंपा—प्राणियों के प्रति दया-भाव। 4. शुभपात्रदान—सुपात्र दान। 5. गुणानुराग—गुणों के प्रति अनुराग, आकर्षण। 6. आगमश्रुति—आगमों, धर्मशास्त्रों का श्रवण।

इन छह बातों का आचरण जीवन में होना चाहिए।

व्यक्ति सुखेच्छु होता है। सुख प्राप्ति के लिए वह कृतसमर्पण बना रहता है। वह सुख प्राप्ति के लिए संकल्प और प्रयास करता है, पर कई बार दुख के आवर्त में भी फंस जाता है। स्थाई और निरपेक्ष सुख की प्राप्ति का एकमात्र मार्ग अध्यात्म है। उसकी आराधना सदैव की जानी चाहिए, परंतु उसकी सघन साधना सबके लिए सदा संभव नहीं। इसलिए धर्माराधना के लिए कुछ दिनों को विशेष रूप से निर्धारित किया गया है। जैन श्वेतांबर परंपरा में 'पर्युषण पर्व' और दिगंबर परंपरा में 'दशलक्षण-पर्व' विशेष धर्माराधना का समय है।

इसमें भी सर्वाधिक महत्त्व और मूर्धन्य स्थान 'संवत्सरी महापर्व' को प्राप्त है।

'संवत्सरी' की तैयारी स्वरूप पूर्ववर्ती सात दिनों में भी विशेष रूप से प्रवचन व धर्माराधना का कार्यक्रम चलता है।

संवत्सरी मैत्री पर्व के रूप में भी प्रख्यात है। इस दिन वैमनस्य को सौमनस्य में हृदय से रूपांतरित किया जाए तो इस पर्व को मनाने

→

निरोध हो गया। कोई रूपवती औरत सामने है, उसको देखने की इच्छा हो रही है, लेकिन आंखों को बंद कर लिया—यह चक्षुरिंद्रिय-विषय-प्रसार-निरोध हो गया। इसी तरह बहुत अच्छी सुगंध आ रही है, मन कह रहा है कि सुगंध और लूं, किंतु सुगंध ग्रहण नहीं की—यह घ्राणेंद्रिय-विषय-प्रसार-निरोध हो गया। हमारे सामने स्वादिष्ट भोज्य पदार्थ हैं, खाने को जी ललचा रहा है, पर नहीं खाया, जिह्वा-संयम कर लिया—यह रसनेंद्रिय-विषय-प्रसार-निरोध हो गया। इसी तरह कोमल मखमल के गद्दे पर सोने में आनंद आता है, पर गद्दे पर नहीं सोया, कठोर पट्ट पर सोया—यह स्पर्शनेंद्रिय-विषय-प्रसार-निरोध हो गया।

दूसरा निर्देश दिया गया है कि सुनने-देखने आदि में राग-द्वेष का निग्रह करो। यदि सुनना है, देखना है तो यह ध्यान रखो कि मेरे मन में राग-द्वेष न आए। श्रीमद्भगवद् गीता में कहा गया है—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।।2/59।।

इंद्रियों के द्वारा विषयों को ग्रहण न करने वाले पुरुष केवल विषय-निवृत्त तो हो जाते हैं,, परंतु उनमें रहने वाली आसक्ति निवृत्त नहीं होती, पर स्थितप्रज्ञ पुरुष की आसक्ति भी परमात्मा का साक्षात्कार करके निवृत्त हो जाती है।

यहां निराहार शब्द का प्रयोग किया गया है। गीता की व्याख्या में रामसुखदासजी महाराज ने निराहार

की अधिक सार्थकता होती है। सदा सौमनस्य को पुष्ट बनाए रखने का संकल्प इस दिन किया जाता है। पर्युषण-संवत्सरी की आराधना से उस आध्यात्मिक ऊर्जा को प्राप्त किया जाए जिसके आधार पर वर्ष भर की सारी गतिविधियां 'अध्यात्म-प्रभावित' रह सकें, मन में क्षमाशीलता का भाव विकसित रूप में रह सके।

दशलक्षण एवं पर्युषण पर्व धर्म की प्रकृष्ट आराधना अथवा सघन आध्यात्मिक पोषण-प्राप्ति का महान अवसर होता है। यह समय प्रमुख रूप से धर्माराधना के लिए ही निर्धारित रहना चाहिए।

पर्युषण पर्व मैत्री का संदेश लेकर भी आता है। वर्ष भर न खुलने वाली गांठें भी इस पवित्र अवसर पर खुल जानी चाहिए। संवत्सरी के रोज होने वाले उपवास की ऊर्जा में वर्ष भर का वैमनस्य भस्म कर डालना चाहिए। कितना अच्छा हो कि पर्युषण पर्व से आध्यात्मिक संबल पाकर व्यक्ति पूरे वर्ष भर ऊर्जा प्राप्त करता रहे और अध्यात्म-प्रभावित आचरण उसके जीवन में दिखते रहें।

इसके लिए चार भावनाओं से चित्त को भावित करना अपेक्षित है। वे चार भावनाएं हैं—मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, माध्यस्थ्य।

मैत्री—दूसरों के हित का चिंतन करना, सबके साथ मैत्री का भाव रखना।

प्रमोद—किसी भी रूप में ईर्ष्या न रखना, दूसरों की उन्नति को देख कर जलन न करना/प्रसन्न होना।

कारुण्य—संक्लिष्ट अथवा दुखित जीवों के प्रति करुणा का भाव रखना, उनके मंगल की कामना करना।

माध्यस्थ्य—प्रतिकूल आचरण करने वालों के प्रति भी मध्यस्थता-तटस्थता का भाव रखना। उनके प्रति भी क्रोध या द्वेष न करना।

इन चार भावनाओं का व्यवहार में प्रयोग करने वाला व्यक्ति धार्मिक कहलाने का अधिकारी है, ऐसा मेरा मंतव्य है।

आत्मा को अध्यात्मभावित कर जीवन में उच्चता और गंभीरता प्राप्त करने का लक्ष्य बने। कहा भी गया है—

उच्चत्वमपरा नाद्रौ नेदं सिन्धौ गभीरता।
अलंघनीयताहेतो द्वयमेतद् मनस्विनि।।

पर्वत में ऊंचाई होती है, पर गहराई नहीं होती। समुद्र में गहराई होती है, पर ऊंचाई नहीं होती, पर मनस्वी व्यक्ति में ऊंचाई और गहराई दोनों होती हैं।

इस महापर्व से ज्ञान की गहराई और आचरण की ऊंचाई को अर्जित करने की प्रेरणा प्राप्त हो सकती है। ●

के मुख्य दो अर्थ किए हैं—1. आहार नहीं करना, 2. विषय-सेवन नहीं करना।

जब भोजन छोड़ देते हैं, तो हमारा विषय-सेवन भी कम हो जाता है, क्योंकि शरीर में क्षमता कम हो जाती है। मैं जब छोटा था, तब कभी-कभी उपवास किया करता था। उस समय मेरी कूद-फांद, घूमना-फिरना, चपलता आदि सब बंद हो जाते थे। तब मेरी संसारपक्षीया मां विनोद में कभी-कभी एक दोहा कहा करती थीं—

अनियो नाचै, अनियो कूदै, अनियो करै बड़ाई।
आज म्हारै अनियो कोनी, क्यांसूं करां लड़ाई।।

अन्न छोड़ देने पर ये सब चीजें बहुत कम अथवा बंद हो जाती हैं। जब आहार छोड़ देंगे तो विषय-निवृत्ति भी हो ही जाएगी। फिर भोग-विलास भी कम हो जाएंगे। आहार छोड़ने के भी दो निमित्त हैं; पहला कारण है—परवशता। जब कोई आदमी बीमार हो जाता है और डॉक्टर के द्वारा यह कह दिया जाता है कि तला हुआ मत खाओ, मिठाइयां मत खाओ, ज्यादा घी मत खाओ, यानी बीमारी आदि के कारण विवशता में कुछ चीजें छोड़नी पड़ती हैं। दूसरा कारण है—स्ववशता। आदमी स्वेच्छा से, त्याग की भावना से भोजन आदि छोड़ता है। एक तो परवशता में छोड़ता है और दूसरा शरीर स्वस्थ है; तो भी भोजन का त्याग करता है, यह बड़ी बात है।

निराहार का एक अन्य अर्थ यह भी है कि विषय-सेवन नहीं करना। जैसे; कानों को बंद कर लिया, तो सुनने का यानी—शब्द का सेवन बंद हो गया। आंखों को बंद कर लिया, तो रूप देखने का संयम हो गया। नाक को बंद कर लिया, तो गंध-ग्रहण का संयम हो गया। जीभ से कुछ नहीं खाया, तो स्वाद का निरोध हो गया और शरीर से कोई स्पर्श नहीं किया, तो स्पर्श का निरोध हो गया।

जो मनुष्य निराहार बन जाता है। उसके विषयों की निवृत्ति स्वतः हो जाती है, किंतु मात्र विषय को छोड़ने से भीतर की आसक्ति नहीं छूटती है। इसलिए गीताकार ने कहा कि त्याग कर देने से, विषयों को छोड़ देने से, निराहार हो जाने से—विषयों की निवृत्ति तो हो जाती है, पर आसक्ति नहीं छूटती है। वह तभी छूटती है, जब परम का दर्शन होता है। जब आदमी भीतर का दर्शन करता है और आकर्षण जब भीतर की ओर हो जाता है, तो फिर भीतर की आसक्ति भी छूट जाती है। हमारी साधना विषयों से निवृत्त रहने की भी चले और साथ-साथ आसक्ति का त्याग करने की भी चले, ताकि भीतर का सुख प्राप्त हो सके। जब भीतर का सुख मिल जाएगा, तो फिर बाहर के सुख गौण हो जाएंगे।

जैन सिद्धांत दीपिका में ध्यान को परिभाषित करते हुए कहा गया है—**एकाग्रे मनः सन्निवेशनं योगनिरोधो वा ध्यानम्** (6/41)—एक आलंबन पर मन को टिकाना और योग-निरोध करना; यानी न सोचना, न बोलना, न शारीरिक चेष्टा करना—त्रिगुप्ति का अभ्यास करना ही ध्यान की साधना है। किंतु, यह भी सचाई है कि एक समय के बाद ध्यान संपन्न भी करना ही होगा और आदमी को प्रवृत्ति की ओर जाना ही पड़ेगा। आखिर बिना देखे, बिना सुने, बिना खाए, बिना बोले, बिना सूंघे और बिना कोई कार्य किए कब तक रहा जा सकेगा? शास्त्रकार ने कहा है कि सुनना, देखना आदि हो तो भी इंद्रियों का निग्रह करो। शब्दों में राग-द्वेष न आए, रूपों में राग-द्वेष न आए, अन्य इंद्रियों के विषयों में भी राग-द्वेष न आए—ऐसा अभ्यास करो।

निरोध और निग्रह का अभ्यास आदमी को जितेंद्रिय बनाता है। गीताकार ने बड़ी सुंदर बात कही है कि **सर्व भूतात्मभूतात्मा** अर्थात् सब जीवों को अपने समान समझने वाला। जो सबको अपनी आत्मा के समान मानने वाला है, वह लिप्त नहीं होता। इससे बिलकुल मिलता-जुलता प्रयोग दसवेआलियं में प्राप्त होता है—

सव्वभूयप्पभूयस्स, सम्मं भूयाइ पासओ।
पिहियासवस्स दंतस्स, पावं कम्मं न बंधई।।4/9।।

जो सब जीवों को आत्मवत मानता है, जो सब जीवों को सम्यक् दृष्टि से देखता है, जो आश्रव का निरोध कर चुका है, उसके पापकर्म का बंधन नहीं होता।

सभी प्राणियों को अपने समान समझ लेना अहिंसा की बहुत उत्कृष्ट साधना होती है। यह अनुभूति करना कि जैसी चेतना मेरे में है, वैसी ही चेतना दूसरों में है। मुझे कष्ट होता है, तो दूसरों को भी कष्ट होता है। मुझे सुख प्रिय है, तो दूसरों को भी सुख प्रिय है। इसलिए मैं दूसरों के सुख में व्यवधान पैदा न करूं, यह विशिष्ट साधना है।

निष्काम कर्म करना ही कर्मयोग है। जो व्यक्ति योगयुक्त होता है, वह संसार के बंधनों से लिप्त नहीं होता। गीताकार ने कहा है—प्रवृत्ति करने से बंधन होता है और इस बंधन से छुटकारा पाने के लिए योगयुक्त बनना बताया गया है। विशुद्धात्मा बनें, जितेंद्रिय बनें—फिर जो भी प्रवृत्ति करेंगे; यानी खाना-पीना सोना-जागना आदि सारी प्रवृत्तियों को करते हुए भी उनसे अलिप्त रहेंगे। अलिप्त रहने से कोई विशेष बंधन नहीं होगा। क्योंकि बंधन के लिए चेप चाहिए, स्नेह चाहिए। जहां चेप नहीं होता, वहां बंधन भी नहीं होता। व्यक्तिगत संबंधों में भी स्नेह होता है, तो व्यक्ति आकृष्ट होता है। यदि स्नेह नहीं होता है, तो कोई निकट भी नहीं आता। आदमी के व्यवहार में चेप होता है तो वह व्यक्तियों को परस्पर निकट कर देता है। स्नेह कई बार घातक भी बन जाता है। अति स्नेह हो जाता है तो मोह हो जाता है और हमारी साधना में बाधक भी बन जाता है। इसलिए किसी से भी न ज्यादा स्नेह रहे और न कोई दुराव रहे। मोह हो जाने से बंधन की बात होती है। द्वेष है तो—बंधन की बात होती है। साधक न तो मोह में जाए और न द्वेष में जाए। वह अपने कर्तव्य पर ध्यान रखे—मधुरता के साथ, व्यवहार-कौशल के साथ रहे।

व्यक्ति वीतरागता के निकट पहुंच गया, जिसमें अहिंसा की चेतना का जागरण हो गया—ऐसा व्यक्ति प्रवृत्ति करते हुए भी अलिप्त रह सकता है, बंधनमुक्त रह सकता है।

अलिप्त और बंधनमुक्त रहने के लिए आराधना का आलंबन भी लिया जा सकता है। आराधना के दो माध्यम हैं—शब्द और रूप। धार्मिक परंपरा में इन दो माध्यमों से आराधना की जाती है। एक अवधारणा ने 'रूप' के द्वारा आराधना को साधन बनाया, तो दूसरी विचारधारा ने 'शब्द' को माध्यम मान लिया। दोनों ही माध्यम हैं। 'रूप' भी एक माध्यम है और 'शब्द' भी एक माध्यम है। यों भी कहा जा सकता है कि एक 'अमूर्तिपूजक' विचारधारा है और दूसरी 'मूर्तिपूजक' विचारधारा है। अमूर्तिपूजक विचारधारा ने कहा कि मूर्ति तो पदार्थ है, भले वह धातु की हो, पत्थर की हो। उसकी क्या आराधना की जाए? आराधना तो उस चेतना की करें, जिसमें गुण है। दूसरी तरफ मूर्तिपूजा में विश्वास रखने वालों ने प्राण प्रतिष्ठा हो जाने के बाद मूर्ति को भी बड़ा महत्त्व दिया और मूर्ति की भी भगवान की तरह ही आराधना करने लगे। धार्मिक जगत में दोनों विचारधाराएं हैं। आज भी दोनों विचारधाराओं के अनुयायी हैं। जैन समाज में श्वेतांबर परंपरा में जहां मूर्तिपूजक संप्रदाय मूर्तिपूजा में आस्था रखने वाला है, वहीं स्थानकवासी और तेरापंथ संप्रदाय मूर्तिपूजा में विश्वास नहीं करता है। फिर भी इतना तो स्पष्ट है ही कि आराधना सबको मान्य है। आराधना के माध्यम अलग-अलग हैं।

हमारी आराधना में कई बार स्वार्थ का भाव भी जुड़ा हुआ रहता है। किसी के मन में कामना रहती है कि आराधना करने से मुझे अमुक उपलब्धि हो जाए अथवा जो संकट है, कष्ट है—वह दूर हो जाए। आराधना करने वाले जितने भी लोग हैं, उनके मन में आत्म-कल्याण की विशुद्ध भावना कितनी रहती है और अन्य भावना कितनी रहती है—नहीं कहा जा सकता। कहीं शुद्ध स्वार्थ की भावना हो सकती है, तो कहीं शुद्ध निःस्वार्थ की भावना भी हो सकती है। यद्यपि परम पद को पाने की भावना भी स्वार्थ ही है, पर वह उत्कृष्ट कोटि का स्वार्थ है। परम पद की प्राप्ति के लिए श्रीमद्भगवद्गीता में उल्लेख आया है—

योगसन्यस्तकर्माणं ज्ञानसञ्छिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय!।।4/41।।

हे धनञ्जय! जिसने कर्मयोग की विधि से समस्त कर्मों का अर्पण परमात्मा में कर दिया है और जिसने विवेक द्वारा समस्त संशयों का नाश कर दिया है—वश में किए हुए ऐसे अंतःकरण वाले पुरुष को कर्म नहीं बांधते।

जिस व्यक्ति ने योग के द्वारा कर्मों का संन्यास कर लिया; यानी जिसने कर्मयोग की साधना की है और कर्म करते हुए भी जो निष्काम हो गया, कामनारहित हो गया—ऐसे योगी को, ऐसे संन्यस्तकर्मा को कर्म कभी बांध नहीं सकते। जिसने ज्ञान के द्वारा संशयों को छेद डाला है, जिसका ज्ञान निर्मल हो गया है और जो आत्मा में लीन हो गया है, जिसके लिए देह भी गौण हो गई और आत्मा मुख्य हो गई—ऐसे व्यक्ति को कर्म बांध नहीं सकते।

उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है—**पण्णा समिक्खए धम्मं** (23/25)—प्रज्ञा के द्वारा धर्म की समीक्षा होती है। जब प्रज्ञा उत्पन्न हो जाती है, तो सारे संशय समाप्त हो जाते हैं और उसके सामने तत्त्व स्पष्ट अवभासित हो जाता है। जिसमें निर्मल प्रज्ञा का विकास होता है, जिसमें अनासक्ति का भाव और वीतरागता आ जाती है—उसके ईर्यापथिक बंध होता है। यह ईर्यापथ-बंध क्या है? यह वीतराग के होने वाला और दो समय की स्थिति वाला बंध है। प्रथम समय में कर्म का बंधन होता है और दूसरे समय में उसका फल भोग लिया जाता है। फिर वह कर्म नष्ट हो जाता है। इसलिए इसको बंध भी कहा जा सकता है और अबंध जैसा भी कहा जा सकता है। गीताकार ने कहा है—कर्म करते हुए जो निष्काम है, अनासक्त है, आत्मलीन है, वीतराग है—उसको कर्म बांध नहीं सकते। उसके पापकर्मों का तो बंध होगा ही नहीं, पुण्य कर्म का बंध भी बहुत अल्पकालिक होगा। जो आत्मवान हो गया, आत्मा ही जिसका मुख्य लक्ष्य बन गया, ऐसे व्यक्ति के कर्मों का बंध नहीं होता।

आयारो में कहा गया है कि हमारा मुख एक आत्मा की ओर रहे। यद्यपि संसार में समय-समय पर व्यक्ति का मुख बदलता रहता है। किसी संस्कृत कवि ने कहा है—

बाल्ये मातृमुखो जातः, तारुण्ये तरुणीमुखः।
पुत्रपौत्रमुखो वार्ध्ये, मूर्खो नान्तर्मुखो भवेत्।।

बचपन में बच्चे का मुख मां की ओर रहता है। वह मां-मां करता रहता है। युवावस्था में जब विवाह हो जाता है, तब मुख पत्नी की ओर हो जाता है। उसके सामने पत्नी मुख्य बन जाती है। वृद्धावस्था आने के बाद ध्यान बेटे, पोते में रहता है।

बचपन में मातृमुख, तारुण्य में तरुणीमुख और वृद्धावस्था में पुत्र-पौत्रमुख हो जाता है। किंतु, कवि कहता है कि वह मूर्ख है, अज्ञानी है, जिसने सबकी तरफ मुख कर दिया, पर आत्मा की ओर मुख नहीं किया।

अतः हमारा ध्यान आत्मा में ज्यादा रहे। साधु के लिए कहा गया—**मोक्षे भवे च सर्वत्र निःस्पृहो मुनिसत्तमः**—अर्थात् साधु न तो मोक्ष की कामना करे, न संसार की कामना करे। वह बिलकुल निष्काम बन जाए। बस, आत्मा में रहे, मोक्ष अपने आप हो जाएगा।

कहा जा सकता है कि **गीता** और **उत्तराध्ययन** जैसे ग्रंथों का स्वाध्याय करने से हमें एक आलोक प्राप्त हो सकता है, जीवन का दर्शन प्राप्त हो सकता है। हम दोनों ग्रंथों के सार को पकड़ने का प्रयास करें, कल्याण का पथ स्वतः प्रशस्त हो सकेगा। ❖

कृपया ध्यान दें

जैन भारती के लिए रचनाएं भेजते समय कृपया निम्नोक्त बिंदुओं का अवश्य ध्यान रखें—

- आपकी रचना कम से कम 1500-2000 शब्दों से लेकर 2500-3000 शब्दों के मध्य हो। कुछेक आलेख जैन भारती के एक पृष्ठ से भी कम आकार के होते हैं, जो हमारे लिए अपर्याप्त हैं। जैन भारती के लिए ऐसे आलेख काम में लेना संभव नहीं। अतः इतने छोटे आलेख न भेजें।
- रचनाएं 'फुलस्केप' कागज पर एक तरफ हाथ से लिखी या टाइप की हुई हों। पूरा हाशिया अवश्य छोड़ें। दो पंक्तियों के बीच भी पर्याप्त स्थान होना जरूरी है।
- फोटोकॉपी न भेजें अथवा सुस्पष्ट हो तो ही भेजें।

कृपया उपरोक्त हिदायतों की ओर पूरा ध्यान देकर हमें सहयोग करें।

मैत्री दिवस (21-22 अगस्त) विशेष

शांति के लिए मैत्री : अपनी त्रुटियों के लिए क्षमायाचना

❀ आचार्यश्री तुलसी ❀

कोई कह सकता है कि हम विश्व-मैत्री की बातें कर रहे हैं, पर आज तो राष्ट्र-राष्ट्र, प्रांत-प्रांत, समाज-समाज, परिवार-परिवार, घर-घर और व्यक्ति-व्यक्ति में विरोध की भावना व्याप्त है। तब फिर विश्व का प्रश्न ही कैसा? इस संदर्भ में मैं कहना चाहूंगा कि विरोध की भावना दो नहीं, एक ही होती है। चाहे वह छोटे क्षेत्र में हो, चाहे बड़े क्षेत्र में। विरोध-भावना व्यक्ति की अपनी आत्मा की ही उपज होती है। अतः उसे उन्मूलित करने का एक ही मार्ग है और वह यह कि लोग 'मैत्री' के मूल को समझें और उसे अपने जीवन में स्थान दें। 'मैत्री दिवस' जिस भावना का प्रतीक है, उसमें कोई व्यक्ति किसी भी दूसरे व्यक्ति के प्रति विरोध नहीं रखेगा। तभी मैत्री की भावना को बल मिलेगा। इसका पहला कदम होगा—अपनी त्रुटियों के लिए व्यक्ति स्वयं दूसरों से क्षमा-याचना करे। भला ऐसा कौन व्यक्ति होगा, जो क्षमा मांगने पर क्षमा नहीं देगा। संयुक्त राष्ट्रसंघ में अनेक देशों के प्रतिनिधि इसी उद्देश्य से आते-जाते हैं, पर ऐसा लगता है कि मौलिक बात को भुला दिया जाता है। इसीलिए यह आवश्यक है कि विश्व भर में एक दिन ऐसा मनाया जाए, जिसके माध्यम से संसार के सभी लोग मैत्री के महत्त्व को समझ सकें।

मैत्री-दिवस किसी एक समाज या एक देश के लिए नहीं है। हमें इसे अखिल विश्व के स्तर पर लाना चाहिए।

आज व्यक्ति-व्यक्ति में नहीं, राष्ट्र-राष्ट्र के बीच तनाव बढ़ रहा है। आज शांति के लिए युद्ध लड़े जा रहे हैं! संसार महायुद्धों को देख चुका है। केवल महायुद्धों को ही क्यों, उनके घातक परिणामों को भी भुगत रहा है। कोई नहीं चाहता कि शांति के नाम पर संहार हो। शांति-संधियां भी होती हैं, पर जब स्वार्थ आपस में टकराते हैं, तो मैत्री की भावना और संधियां किनारा ले लेती हैं, खाइयां पड़ जाती हैं। राष्ट्रसंघ की स्थापना ऐसी ही खाइयों को पाटने

'मैत्री दिवस' जिस भावना का प्रतीक है, उसमें कोई व्यक्ति किसी भी दूसरे व्यक्ति के प्रति विरोध नहीं रखेगा। तभी मैत्री की भावना को बल मिलेगा। इसका पहला कदम होगा—अपनी त्रुटियों के लिए व्यक्ति स्वयं दूसरों से क्षमा-याचना करे। भला ऐसा कौन व्यक्ति होगा, जो क्षमा मांगने पर क्षमा नहीं देगा। संयुक्त राष्ट्रसंघ में अनेक देशों के प्रतिनिधि इसी उद्देश्य से आते-जाते हैं, पर ऐसा लगता है कि मौलिक बात को भुला दिया जाता है। इसीलिए यह आवश्यक है कि विश्व भर में एक दिन ऐसा मनाया जाए, जिसके माध्यम से संसार के सभी लोग मैत्री के महत्त्व को समझ सकें।

के लिए हुई थी, पर वह भी अपने उद्देश्य में पूर्ण रूप से सफल नहीं हो पाया है। ऐसे समय में हमारा कर्तव्य है कि हम युद्धग्रस्त मानव समुदाय को मैत्री की भावना के प्रति आमुख करें। इसी दृष्टि से दिल्ली में 'मैत्री दिवस' का प्रथम आयोजन किया गया था। फिर यह आयोजन अनेक स्थानों पर मनाया गया। इसका एकमात्र लक्ष्य था कि मानव को एक स्वार्थमुक्त मैत्री की भावना मिले।

भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ. राजेंद्रप्रसाद 'मैत्री दिवस' के संदर्भ में यह चाहते थे कि—'···· प्रत्येक राष्ट्र अपनी समस्याओं को मैत्रीपूर्ण ढंग से हल करे। ····आज के युग में 'मैत्री दिवस' के आयोजन का और भी महत्त्व बढ़ जाता है।'

हम मानते हैं कि अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए हथियारों को निमंत्रण देने की आवश्यकता नहीं। हम नहीं चाहते कि मानव-संहार हो। जब सभी लोग शांति की पुकार करते हैं, तो क्यों कुछेक राष्ट्रनेता अपने तुच्छ स्वार्थों के लिए युद्ध व अशांति को बुलावा देते हैं।

दरअसल युद्ध की भावना राष्ट्र से नहीं, व्यक्ति के मस्तिष्क से निकलती है। अतः मैं चाहता हूं कि प्रहार मूल पर ही हो, ताकि युद्ध की भावना ही न पनपे।

मैं मानता हूं कि कोई भी देश अपने हितों को छोड़ दे, यह संभव नहीं है। व्यक्ति-व्यक्ति के विचारों और स्वार्थों में अंतर हो सकता है, पर इससे आपसी संबंध कटुतापूर्ण हों जाएं—यह अनावश्यक है। प्रत्येक विचार में अनेकांत दृष्टि से कुछ समन्वय खोजा जा सकता है।

आज अशांत मनुष्य शांति की खोज में है। राजनीति की मृग-मरीचिका में उसे पद-लिप्सा, आत्म-प्रशंसा और पर-निंदा की चकाचौंध ही मिली है। दूसरों की आलोचना करना सहज हो गया है। दूसरों को गिराना तो जैसे उनके लिए **'आचारः प्रथमो धर्मः'**—बन गया है। अधिकारों का दुरुपयोग करना जैसे जन्म-सिद्ध अधिकार हो गया है।

आज श्रम की प्रतिष्ठा मिट गई है। नैतिकता कोसों दूर चली गई है। बड़प्पन का मापदंड संयम नहीं, अर्थ बन गया है। बड़प्पन की भूख सबमें प्रबल है।

यही हाल धर्म-संप्रदायों का हो गया है। धर्मनीति में घुसकर खुली आंखों से देखा जाए तो पाएंगे कि धर्म ने आडंबर का कुत्सित चोगा पहन रखा है। धर्म की ओट में स्वार्थ साधा जा रहा है। भगवान सोने से ढका हुआ है, ज्ञान भी सोने से मढा हुआ है। उपासना का केंद्र वासना का केंद्र बना हुआ है। धर्म को संप्रदाय की चहारदीवारी में बंदी बनाया हुआ है। व्यक्ति दिग्भ्रांत है और वह दिग्भ्रमित सा ही चला जा रहा है। कहीं पर उसे प्रकाश की कोई किरण नजर आए तो वह मुड़ने को तैयार है। व्रतों के वातावरण में ही पहुंच कर वह देखता है कि शांति का मार्ग संयम है, आत्म-नियंत्रण है, अपने द्वारा अपना अनुशासन है। धर्म का विशुद्ध रूप यही है। ऐसा धर्म ही संप्रदायवाद से परे है। जाति, रंग और लिंग के बंधनों से मुक्त है। राजनीति के रंगमंच से दूर है।

ऐसे ही वातावरण में मनुष्य सोच सकता है कि मैंने किसी के साथ मन-वचन-काया से जान या अनजान में कोई कटु व्यवहार तो नहीं किया? उसकी आत्मा उसे अपने-आप जवाब देगी। अगर ऐसा हो तो वह अपने अंतर की संपूर्ण निर्मलता एवं ऋजुता के साथ अपनी भूल के लिए क्षमा चाहे और दूसरे पक्ष को भी क्षमा करे।

मैत्री का सुदृढ़ आधार यही हो सकता है।

❖

भारत की व पाश्चात्य देशों की सभ्यता में एक मूलभूत अंतर रहा है। भारत में आध्यात्मिकता व रूहानियत को सर्वोपरि स्थान दिया जाता रहा है और यूरोप आदि देशों में आर्थिक व भौतिक विकास व समृद्धि को। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इस बुनियादी सत्य को बड़ी सुंदरता से व्यक्त किया है—'भारत में एक किसान दिन-भर परिश्रम करके, शाम को भजन-कीर्तन करता हुआ अपनी थकान मिटाने का प्रयत्न करता है, किंतु यूरोप में एक मजदूर को शाम को अपनी थकान मिटाने के लिए 'शराबखाने' में जाने के सिवा कुछ और सूझता ही नहीं है।'

—श्री मन्नारायण

कहानी

गुड़हल का फूल

हृदयेश

जेठ मास की तपती दोपहरी में पुराने घने पीपल की शीतल छाया ने या तो उस कृशकाय, असमय वृद्ध भिखारी के शरीर में आलस भर दिया था, या सुबह से अब तक बराबर डोलते रहने के कारण वह बहुत थक गया था, या भीख में कुछ अधिक पा जाने के कारण वह निश्चिंतता से भरा था कि बाहर उभरी एक मोटी जड़ के सहारे पीठ दिए वह गहरी निद्रा में सो गया था और यों दीख रहा था, मानो वहां गंदगी का एक ढेर पड़ा हो। इस सोए भिखारी के पास पांच-छह वर्ष का एक बालक, जो इस भिखारी का लड़का ही हो सकता था, बैठा था। उसे नींद नहीं आई थी और वह ऊपर अपने मूंगे जैसे रंग के ओंठों के बीच से सफेद महीन दांत चमकाता हुआ काली बुंदकीदार एक पंडुकी को देख रहा था, जो एक निचली शाख पर बैठी अपनी लोचदार गर्दन हर क्षण घुमा रही थी। वह बीच-बीच में पंडुकी की ओर अपनी नन्ही कलाई उठा कर बुलाने की कोशिश भी करता था।

जब पक्षी उड़ कर ऊपर घने हरे साए में अदृश्य हो गया, बालक कुछ देर तक विस्मय और कौतूहल भरी दृष्टि से उसे खोजने की असफल चेष्टा करता रहा। फिर वह अपना निचला ओंठ मोड़ कर चूसता हुआ अपने स्थान से उठ खड़ा हुआ। उसे प्यास लग आई थी। सड़क की दूसरी पटरी पर एक सरकारी नल लगा था। बालक ने उठते हुए अपने बापू की ओर देखा था। वह अभी गहरी नींद में डूबा हुआ था। वह अपने छोटे-छोटे पैरों से नन्हे-नन्हे डग भरता हुआ कोलतार की सलेटी सड़क को पार कर गया। वह एक ऊंची, पुरानी धारीदार कमीज पहने हुए था, जिसके गले के बटन नदारद थे और उसमें से उसकी मुलायम चिकनी गेहुआं रंग की छाती चमक रही थी। इस कमीज को छोड़ कर वह और कुछ नहीं पहने हुए था और उसके नीचे का भाग बिलकुल नंगा था। पर, अपने नंगेपन के लिए

—'तुम घोड़ा बन जाओ, मैं तुम्हारी पीठ पर खड़ा होकर तोडूंगा।'—भिखारी बालक ने फूल तक पहुंचने का उपाय निकाल लिया था। —'बनो घोड़ा।'—बंगले वाले बालक को देर लगाते देख कर उसने फिर कहा। बंगले वाला बालक उस फूल के बिलकुल नीचे आकर झुकते हुए घोड़ा बन गया। पर, जब भिखारी बालक ने पीठ पर टांग रख कर चढ़ना चाहा, वह उधर ही झुक कर टेढ़ा हो गया। भिखारी बालक ने उसे दुबारा और तिबारा घोड़ा बनाया, पर हर बार भार संभाल न सकने के कारण वह टेढ़ा हो जाता था। शायद उसे घोड़ा बन कर बोझ लादने की आदत न थी।

उसकी आंखों में कोई शर्म या हीनभावना नहीं थी। नंगापन बुरा होता है, इस भावना से शायद वह अपरिचित था। वह मंद-मंद मुस्कराता हुआ नल के पास आ गया। नल को खोलना वह जानता था, क्योंकि नल से ही बराबर पानी पीता आ रहा था और उसने दाएं हाथ से टोंटी के ऊपर के भाग को दबाते हुए बाएं हाथ की हथेली मुंह में लगा कर पानी पीया। जब पानी पी चुका, उसे पानी से खिलवाड़ करने की सूझी। उसने पानी की गिरती धार को तेजी से अंगुली हिला कर काटना शुरू किया। फिर अपनी पल्लवों जैसी अंजुली में पानी भर कर उसे ऊपर उछाला और जब उसके कुछ छींटे उसके सिर और जिस्म के ऊपर पड़े तो उनके शीतल स्पर्श से वह हंसने लगा। वह कुछ देर तक ऐसा ही खेल करता रहा। सड़क सूनी थी। क्योंकि एक तो तपती दोपहरी थी, दूसरे सड़क आम न थी, न इधर कोई बाजार वगैरह ही था। जब इस खेल से उसका जी अघा गया, वह नल के चबूतरे पर खड़ा होकर पीपल के नीचे देखने लगा, जहां उसका बापू अब भी सो रहा था और वह उसे वहां से काफी छोटा दीखता था। फिर वह नजर घुमा-घुमा कर दूसरी दिशाओं में देखने लगा। उसकी दृष्टि जब पश्चिम की ओर गई तो लगा कि दस गज की दूरी पर एक बंगले का ऊपर की ओर उभरा हुआ लोहे का फाटक उसे निमंत्रण दे रहा है। वह चबूतरे से उतर आया और दोनों हाथ हिलाता हुआ मस्ती और निश्चिंतता भरे कदमों से उधर चला गया। फाटक भिड़ा हुआ था और उसने उसका एक पल्ला खोल लिया। उसका इरादा उस पर चढ़ कर अंदर-बाहर चक्कर लगाने का था, पर धूप की तपन से सलाखें काफी गर्म हो गई थीं और फाटक इस योग्य न रहा था कि उस पर ऐसा खेल खेला जा सकता। तब वह वैसी ही निश्चिंतता और मस्ती के साथ अंदर चला गया। उसकी सुकुमार मुद्रा और चेहरे की सरल सहज भाव-भंगिमा देख कर कोई भी नहीं कह सकता था कि बंगला उसका जाना हुआ नहीं है और वह यहां कई बार आ नहीं चुका है।

बंगले का रास्ता गेरुआ कंकरीट का था और यह सुर्खी सफेद चूने से पुती जंजीरेदार ईंटों से बंधी थी। इन ईंटों के दोनों ओर क्यारियां बनी थीं और उनमें तरह-तरह के फूल उगे थे। पिछले दिनों जो दो-तीन पानी गिर चुके थे, उसका लाभ उठा कर गर्मी से झुलसा देने वाले इन दिनों में भी फूल और हरियाली उगा दी गई थी।

वहां खिले फूलों को देख कर, जो कई रंग और आकार के थे, बालक बहुत ही प्रसन्न हुआ। उसकी बिल्लौरी की तरह साफ आंखों में न जाने कितनी चमक भर गई। वह कुछ देर तक उन्हें मुग्ध-दृष्टि से निहारता रहा, फिर दाईं तरफ एक क्यारी में उतर गया, जहां कुछ लतरें फूली खड़ी थी और उनके फूलों पर हौले-हौले अंगुलियां फेरने लगा। कुछ देर बाद उसने एक लतर को हौले से पकड़ कर अपनी ओर मोड़ लिया और उसमें लगे फूलों पर हलके से अपना नरम सुकुमार चेहरा रख दिया और काफी देर तक आंखें मींचे सुखद अनुभूति से विहंसता हुआ, जिससे उसके गालों की गुलाइयां उभर गईं, बैठा रहा। फिर वहां से उठ कर दूसरे फूलों के पास चला आया और वहां भी करीब-करीब ऐसे या इससे मिलते-जुलते खेल किए। किनारे पर एक ओर लगे गुड़हल के सुर्ख़ फूलों को देख कर उसके मन में चाह जगी कि वह उन फूलों के पास पहुंच कर उनको तोड़े। पर, गुड़हल का पौधा ऊंचा था और उछलने पर भी वह ऊपर फुनगियों पर लगे दुमदार गहरे सुर्ख रंग के फूलों को छू नहीं सकता था। वह सोचने लगा कि वह वहां तक कैसे पहुंच सकता है। पर जब तक वह अपने मस्तिष्क के कोमल तंतुओं पर बल डाले-डाले, बाग के दक्षिणी कोने में कुछ भद-भद की मोहक आवाज हुई और उसे हवा में एक गोल-गोल चीज उछलती लगी। वह वहां से हट कर झूमता हुआ उधर बढ़ गया।

बाग के दक्षिणी कोने पर एक काफी ऊंचे विशाल इमली वृक्ष के नीचे एक उतनी ही उम्र का बालक गेंद उछाल रहा था। यह बालक गोरे रंग का था और सफेद बनियान के ऊपर गेलिसदार आसमानी नेकर पहने था। उसके नुकीली ठोड़ी वाले चेहरे पर घुंघराले भूरे बाल बिखरे हुए थे।

भिखारी बालक उसे देख कर यों हंस दिया जैसे उससे उसकी पुरानी पहचान हो और उत्तर में बंगले के मालिक का लड़का भी यों हंस दिया जैसे वह उसी की प्रतीक्षा कर रहा हो। बस इस हंसने में ही उनका अभिवादन हो गया और औपचारिक प्रारंभिक परिचय भी।

—'तुम गेंद खेल रहे हो?'

—'हां-आं।'

—'गेंद तुम कितनी ऊपर फेंक सकते हो?'

—'मैं उन पत्तियों के पास तक फेंक सकता हूं।'—गोरे रंग के बंगले वाले लड़के ने अपनी नन्ही अंगुली से कुछ ऊपर एक झुकी हुई शाख पर लगी झालर जैसी पत्तियों की ओर संकेत किया।

—'फेंको।'—भिखारी बालक ने उधर देखते हुए कहा।

बंगले वाले लड़के ने गेंद ऊपर फेंकी और वह सच में वहां तक पहुंच गई, जहां उसने इशारा किया था। गेंद ने पत्तियों को छू लिया था और छू जाने से रुकी हुई हवा में खामोश खड़ी वे पत्तियां हिलने लगी थीं, जैसे कांच की लड़ियोंदार झालर धूप में झिलमिलाने लगी हो।

—'मैं भी गेंद फेंकूंगा।'

—'हां, तुम भी फेंको।'

बंगले वाले लड़के ने भिखारी बालक को गेंद दे दी। भिखारी बालक ने गेंद हाथ में आते ही उसे घुमा-घुमा कर गौर से देखा। फिर मुट्ठी में कसा।

—'अरे, यह दब जाती है।'

—'हां, यह दब जाती है।'

भिखारी बालक ने उस पर अपनी अंगुलियां और सख्त कीं और गेंद और भी दब गई।

—'ऊपर फेंकोगे नहीं?'

भिखारी बालक ने ऊपर देखा, जहां उसे गेंद फेंकना था। वहां पत्तियां अब बहुत धीरे-धीरे हिल रही थीं। उसने उछलते हुए गेंद फेंकी। गेंद पत्तियों से ऊपर तो निकल गई, पर उससे परे रहने के कारण उसने पत्तियों को छुआ नहीं और जमीन पर गड़ी जंजीरे की एक ईंट की नोक पर टप्पा खाकर फिर उछल गई और वहां गिरी जहां गुड़हल के दरख़्त खड़े थे। वे दोनों उधर ही दौड़ गए, आगे-आगे भिखारी बालक और पीछे-पीछे बंगले वाला बालक। गेंद गुड़हल के थले में जाकर रुक गई थी और भिखारी बालक ने झुकते हुए उसे वहां से उठा ली। इस गुड़हल में भी फूल लगे थे। फूलों को देख कर भिखारी बालक में उन्हें पाने की इच्छा फिर बलवती हो उठी। यह गुड़हल भी ऊंचा था और यद्यपि यहां एक टहनी पर कुछ फूल नीचे की ओर खिले थे, पर उन दोनों बालकों की पहुंच से करीब एक-दो फुट ऊपर तब भी थे।

—'मैं यह फूल लूंगा।'—भिखारी बालक ने गेंद बंगले वाले लड़के को पकड़ा दी, जिसने कुछ देर तक उसे हाथ में पकड़े रहने के बाद जेब में ठूंस ली और उसकी जांघ के ऊपर का नेकर वाला भाग बैलून की तरह फूल गया।

भिखारी बालक अब तक चार-पांच बार उछल चुका था। एक बार उसने गुड़हल की एक निचली गांठ पर टांग रख कर उचकना भी चाहा था, पर अपने प्रयास में असफल रहा था। वह तब खड़ा-खड़ा थके चेहरे पर फैली आंखों से फूल की ओर चुपचाप देखने लगा, जिसकी सुनहली कलगीदार दुम नीचे लटकी हुई थी।

—'तुम घोड़ा बन जाओ, मैं तुम्हारी पीठ पर खड़ा होकर तोड़ूंगा।'—भिखारी बालक ने फूल तक पहुंचने का उपाय निकाल लिया था।

—'बनो घोड़ा।'—बंगले वाले बालक को देर लगाते देख कर उसने फिर कहा।

बंगले वाला बालक उस फूल के बिलकुल नीचे आकर झुकते हुए घोड़ा बन गया। पर, जब भिखारी बालक ने पीठ पर टांग रख कर चढ़ना चाहा, वह उधर ही झुक कर टेढ़ा हो गया। भिखारी बालक ने उसे दुबारा और तिबारा घोड़ा बनाया, पर हर बार भार संभाल न सकने के कारण वह टेढ़ा हो जाता था। शायद उसे घोड़ा बन कर बोझ लादने की आदत न थी।

—'अच्छा लो, मैं घोड़ा बनता हूं, तुम चढ़ो।'—उसे घोड़ा बनने में असफल पाकर उसने स्वयं ही घोड़ा बनना स्वीकार कर लिया। वह पैरों के घुटने और हाथों की कोहनियां मोड़ कर जमाते हुए घोड़ा बन गया। बंगले वाला बालक जब हथेलियों में लग गई मिट्टी झाड़ता हुआ ऊपर चढ़ा तो ऊपर चढ़ने में ही संतुलन खो बैठा और लड़खड़ा कर गिर पड़ा। गिरने से यद्यपि उसके कोई चोट न आई थी, पर वह काफी डर गया।

—'चढ़ो'—भिखारी बालक ने घोड़ा बने-बने कहा।

—'मैं नहीं चढ़ूंगा। गिर पड़ूंगा'—बंगले वाले बालक की आंखों में भय की छाया घिरी थी।

—'चढ़ो। नहीं गिरोगे। मैं हिलूंगा नहीं।'

—'नहीं, नहीं चढ़ूंगा। तुम वह दूसरे फूल तोड़ लो।'

भिखारी बालक उठ खड़ा हुआ और उसने उन फूलों की ओर देखा, जिधर इशारा किया गया था। वे छोटे-छोटे वही फूल थे, जिनसे बंगले में घुसते समय वह खेल चुका था। आहा! यह कितना बड़ा और कितना लाल है। इसके लंबी दुम भी है।

—'नहीं, मैं इसी फूल को तोड़ूंगा।'—भिखारी बालक की मुद्रा दृढ़ निश्चय से गंभीर हो गई थी।

वह पांच-छह बार फिर उछला, पर हर बार फूल कुछ फासले पर रह गया। उसका चेहरा एक तो धूप की तेजी के कारण और दूसरे उछल-कूद के परिश्रम से गुलाबी हो गया था और उसकी महीन धनुषाकार भौंहों के गिर्द मोतियों जैसी पसीने की बूंदें झिलमिलाने लगी थीं।

असफल रह कर बालक फिर खड़ा-खड़ा फूल की ओर फैली आंखों से देखने लगा। फूल कितना प्यारा है। वह पा जाए तो कितना मजा आए। पर कैसे? कुछ फासले पर अहाते की दीवार के पास कुछ गुम्मा ईंटें पड़ी थीं। उन पर दृष्टि जाते ही वह बोला—'हम उन ईंटों को यहां उठा लाएं और उन्हें रख कर चबूतरिया बना लें। चबूतरिया पर चढ़ कर फिर मैं फूल तोड़ूंगा।'—इतनी कम उम्र में ही दुनिया काफी देख चुकने के कारण उसकी बुद्धि तेज हो चुकी थी।

वह और उसके पीछे बंगले वाला बालक उन ईंटों के पास दौड़ गए और एक-एक कर छह ईंटें गुड़हल के पेड़ के नीचे उठा लाए। तले ऊपर दो-दो ईंटें रख कर भिखारी बालक ने चबूतरिया बना ली और फिर उसके ऊपर चढ़ गया। बंगले वाला बालक नीचे ही खड़ा रहा और उसकी क्रियाएं देखने लगा। पर, ऊपर चढ़ जाने पर भी वह सुर्ख फूल पहुंच के कुछ बाहर रहा। तब वह बालक अपनी एड़ियों को उठाता हुआ दोनों अंगूठों के बल उचका। पर, चार अंगुल का फासला अब भी था। वह खड़ा होकर फैली आंखों से फूल की ओर फिर देखने लगा और सोचने लगा कि अब यह दूरी कैसे कम की जाए। उसके चिकने मासूम चेहरे पर परेशानी की कुछ भद्दी रेखाएं उभर आई थीं। अहाते की दीवार के पास कुछ ईंटें और पड़ी थीं और वह शायद वहां से दो ईंटें और उठा लाता, तभी उसे एक और उपाय सूझ गया। उसने एक निचली टहनी को, जिस तक उसका हाथ पहुंच जाता था, पकड़ कर नीचे झुकाया। उसके झुकने पर फूल वाली टहनी भी नीचे झुक चली, क्योंकि वह उससे जुड़ी थी और तब उसने दूसरा हाथ लपका कर फूल तोड़ लिया। फूल हाथ में आते ही उसने बड़ी जोर से एक किलकारी मारी—आहा हहह—और फिर छलांग मारता हुआ ईंटों से नीचे आ गया और जमीन में फूल को एक हाथ से ऊपर उठाए काफी देर तक उछलता और जोर-जोर से हंसता रहा। उसके गालों की गुलाइयां उभर आई थीं और आंखों ने सितारों की रोशनी छीन ली थी। फिर वह वहीं घास पर पलथी मार कर बैठ गया और फूल की तारीफ करने लगा कि वह कितना सुर्ख है, उसकी पंखुड़ियां कितनी चिकनी और चौड़ी हैं और उसमें बीच में लगी दुम कितनी अजूबा है और दुम के आखिर में सुनहली कलगी कितनी भली दीखती है।

—'इसका नाम गुड़हल का फूल है।'—बंगले वाले लड़के ने, जो अपने पापा, मम्मी और माली से फूलों के नाम जान चुका था, उसकी खुशी में अपनी खुशी घोलता हुआ बोला।

—'यह गुरुहल का फूल है।'—भिखारी बालक ने जोर से उच्चारा।

—'गुरुहल नहीं, गु-ड़-ह-ल।'—बंगले वाले लड़के ने एक-एक अक्षर तोड़ते हुए समझाया और फिर इशारा कर बंगले में लगे उन फूलों के नाम बताने लगा, जो वहां से दिखाई दे रहे थे कि—वह गुलाब है, वह बरजीनिया है, वह सदाबहार है—भिखारी बालक की आंखों में कच्चा अचरज घिर आया कि इन फूलों के भी अलग-अलग नाम होते हैं। उसकी समझ में सब फूलों का नाम बस एक ही है—फूल।

कुछ देर तक वे वहीं बैठे फूलों के संबंध में अजीबो-गरीब बातें करते रहे। साफ नीले आकाश से सूरज अब भी तेज किरणें फेंक रहा था और वे गुड़हल की लंबोतरी छाया में बैठे हंस, मुस्करा और बतिया रहे थे। जब बंगले वाले

बालक ने अपने खिलौनों की बात चलाई और बताया कि वे बाहर वहीं इमली के दरख्त के पास रखे हुए हैं, तो वह पीछे-पीछे उठ कर वहां चला गया। उसके हाथ में गुड़हल का फूल अब भी थमा था।

खिलौनों में एक मोटर थी, एक गुड़िया, एक बाजा और एक किताब।

भिखारी बालक ने अति उत्साह और रुचि से एक-एक खिलौने को उठा कर जांचा-परखा और खेल कर देखा। मोटर चलाने पर उसने उस खिलौने की यों आलोचना की कि वह पों-पों नहीं बोलती है, क्योंकि उसने सड़क पर जितनी भी मोटरें चलती देखी थीं, वे सब वैसी आवाज करती थीं। बंगले वाले बालक ने इसके उत्तर में बताया कि उसके पापा के पास जो बड़ी मोटर है, वह पों-पों करती है और फिर पूछा कि उसके पापा के पास भी है क्या?

पापा का शब्द भिखारी बालक का सुना हुआ था और वह उसका अर्थ समझता था। उसने बड़ी मायूसी से अपनी गर्दन हिला दी। तब बंगले वाला बालक उसे बताने लगा कि वह कैसे बैठ कर अपने मम्मी-पापा के साथ बड़ी मोटर पर बाजार जाता है और वह कितनी तेज दौड़ती है।

अब बंगले वाले बालक ने अपनी किताब खोल ली और पहले तो उसकी तसवीरें भिखारी बालक को दिखाने लगा और फिर पाठ पढ़ कर सुनाने लगा—'दिस इज ए कैट—यह है एक बिल्ली।—दैट इज ए रैट—वह है एक चूहा।'

'मैं भी पढ़ूंगा।'—भिखारी बालक ने उससे किताब ले ली। पर, पढ़ने के नाम पर वह उलटे-अटपटे शब्द कहने लगा—'काटू—किटी—सेमी—राटी—।' उनको सुनकर बंगले वाला बालक खुलकर हंसने लगा और फिर वह भी वैसे ही खुलकर हंसने लगा।

उन खिलौनों से भिखारी बालक जल्दी ही ऊब गया और खड़ा होकर चारों ओर नजर दौड़ाने लगा कि अब दूसरा कौन-सा खेल खेला जाए? बंगले की चहारदीवारी झिंझरीदार थी और उधर नजर जाते ही वहां चला गया।

—'मैं इस पर चढ़ूंगा।'

—'नहीं, तुम गिर जाओगे। चोट लग जाएगी, खून निकलेगा।'

—'मैं नहीं गिरूंगा। मैं चढ़ूंगा।'

भिखारी बालक कुछ प्रारंभिक कठिनाइयों के बाद झिंझरी की ईंटों को हाथ से पकड़ता और उन पर पैर रखता हुआ ऊपर पहुंच गया। ऊपर पहुंच कर उसने दोनों हाथ छोड़ दिए और तन कर खड़ा होकर आहाहा की।—'आहा! वह कितना बड़ा हो गया है! आहा! उसे बहुत दूर का दिखाई दे रहा है।'—उसने अपनी जेब से गुड़हल का फूल निकाल लिया और किसी झंडे की तरह उठाए हुए और आहाहा करता हुआ दूर तक चला गया। फिर नीचे उतर आया।

इसके तुरंत बाद ही वहां बंगले वाले बालक की मम्मी, जो मोटी और गोरी चिट्टी थी, आ गई। जागने पर कमरे में बच्चे को न पाकर वह उसे बाग में खोजने आई थी। अपने बेटे के पास एक अधनंगे गंदे बच्चे को देख कर उसने डपटते हुए पूछा—'तू कौन है? यहां क्यों आया?'

भिखारी बालक लोगों की नाराजगी का बस एक ही कारण जानता था, जिसके लिए वह और उसका बापू अकसर दुत्कार दिए जाते थे। वह सीधे-सरल भाव से बोला—'मेम साब, मैं भीख मांगने नहीं आया हूं। मैं खेल खेल रहा था।'

और फिर वह न जाने कैसे समझ गया कि अब खेल नहीं होगा और वह नन्हे-नन्हे डग भरता हुआ वहां से निकल गया और सूनी सड़क पार कर वहीं आ गया, जहां उसका बापू एक गंदगी के ढेर की मानिंद अब भी नींद में डूबा हुआ था। वह एक पत्थर पर चढ़ कर बैठ गया और जेब से वही गुड़हल का फूल निकाल कर मूंगे जैसे सुर्ख ओंठों के बीच से सफेद दांत चमकाता हुआ देखने लगा। ❖

वाक् अर्थात् इंद्रियां, प्राण अर्थात् सूक्ष्म-चेतन और मन अर्थात् ज्ञानमय चेतन। इन तीनों के क्षेत्र क्रमशः शरीर, प्राण और अंतरात्मा हैं। इनको भलीभांति जानने के लिए ज्ञान की तीन भूमिकाएं हैं—विज्ञान, संज्ञान और प्रज्ञान।

—मकरंद दवे

वंशी माहेश्वरी की कविताएं

•

मनुष्यों में
बहुत भीतर तक
बची नहीं
तिल रखने की जगह!

मनुष्यों में
सभ्यता और संस्कृति का भग्नावशेष
पड़ा है मूर्च्छित!

मनुष्यों में
काच के असंख्य टुकड़ों में फैली है
यत्किंचित मनुष्यता

मनुष्यों में
मनुष्य होने की शर्म
आत्म-विभाजित करती चली गई!

मनुष्यों में
मनुष्य
अपने प्रचलित बोध में पछताता
आता-जाता है
मनुष्यों में!

•

जगह
रोप दी है तुमने मुझ में जगह
बीज से वृक्ष की यात्रा में
कितना समय
खो जाता है
बढ़ते-बढ़ते
बढ़ते रहने की उम्र बीत जाती है
चलता रहता है बढ़ना
थम जाती हैं सांसें

सिर्फ चलता रहता है चलना।

जगह कोई भी हो
कैसी भी हो
उसकी धड़कनों में
धड़कती रहती है परंपरा।

•

मैं चला जाता हूं
ऊब कर
थक कर
जहां पहुंचता हूं
वहां भी पहुंच नहीं पाता

उठ कर
चला जाता हूं वहां,
जहां पैर पसारे बैठा है
'कहां'

पूरे जीवन
पीछा करता रहता है कहां

मृत्यु की जगह भी
आखिर
बची है कहां?

•

कितने ही शब्द आ कर
चले जाते हैं
कई बार आ कर
चले जाते हैं
चलती रहती है प्रदक्षिणा

शब्दों की आत्मा में
भटकते रहते हैं शब्द
जैसे
मृत्यु के जीवन में
भटकता रहता है जीवन। ❖

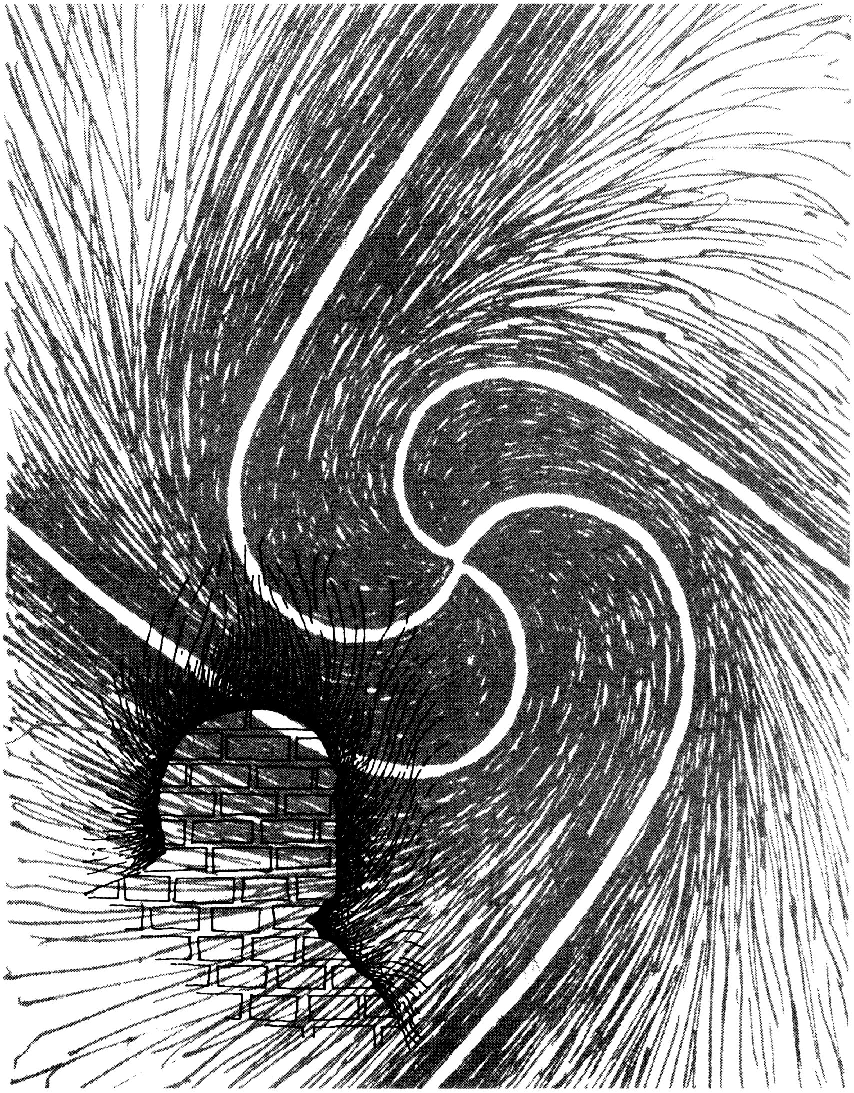

शीलन

विश्व-चेतना का यह विराट शरीर—सत्य है, सतत है, और चिर-सुंदर है। चेतना का यह विराट शरीर ही सचराचर मूर्त विश्व है, जो अपने दुख-सुख से पुलकित है, स्पंदनशील है। जब सबकी चेतना एक ही है, तो इस विराट विश्व में पराया कौन है? इस विराट विश्व का अणु-अणु, कण-कण उसी विराट चेतना का अणु है, कण है। फिर द्वयता कैसी? किस कारण भेद-भाव?

—सिद्धेश्वरप्रसाद

पर्युषण : सहअस्तित्व, समभाव और विकास का पर्व

❀ मुनि कुमुदकुमार ❀

पर्युषण पर्व आत्मदीप को प्रज्वलित करने का आध्यात्मिक अनुष्ठान है। यह पर्व अनादिकाल से मनाया जा रहा है। इस पर्व में आठ दिन तक तप, जप, ध्यान, स्वाध्याय और संयम की साधना की जाती है और आत्मा से परमात्मा बनने के लिए व्यक्ति स्वयं को उस दिशा में अग्रसर करता है।

श्वेतांबर परंपरा के पर्युषण पर्व की संपन्नता के साथ ही दिगंबर परंपरा में यह पर्व शुरू हो जाता है। दिगंबर परंपरा में यह पर्व 'दस लक्षण पर्व' के रूप में मनाया जाता है। इस अनुष्ठान में क्षमा, आर्जव, मार्दव, सत्य और संयम आदि दस-धर्म की विवेचना व साधना की जाती है।

यह पर्व व्यक्ति को ऊंचाइयों की ओर ले जाता है, परंतु कब?—तब, जब व्यक्ति के भीतर से आवाज उठती है कि मुझे जीवन में कुछ परिवर्तन करना है। पर्युषण एक पर्व तो है ही, साथ ही परिवर्तन का एक प्रयोग भी है। अपने आपको आत्म-दर्पण में देखने का पर्व भी है। धर्म का अर्थ ही है—परिवर्तन। व्यक्ति खाता जाए और पेट न भरे तो मानना चाहिए भस्मक रोग है। साधक साधना करता जाए, परंतु परिवर्तन न आए तो मानना चाहिए कि साधना में कमी है। यह पर्व दूसरों की प्रवृत्तियों का नहीं, स्वयं की समीक्षा करने का पर्व है। यह पर्व अपनी वृत्तियों का निरीक्षण करने का पर्व है। हम स्वयं सिद्धांतों को आचरण में लाएं। ऐसा न हो कि दूसरों को बदलने की प्रेरणा देते-देते स्वयं वहीं के वहीं रह जाएं।

हम सभी जानते हैं कि पर्युषण पर्व अंतरंग की दूषित परतों को खोलने का पर्व है, उन परतों को उतार डालने का पर्व है—जो आत्मा पर आवरण की तरह बनी हुई हैं। उन दीवारों को गिराने का पर्व है, जो आत्मविकास की राह में बाधक बनी हुई हैं। सच्चाई की राह में दूरी बना रही उस खाई को पाटने और मंजिल तक पहुंचने में अवरोध बने हुए तत्त्वों को अस्तित्वहीन करने का पर्व है। आत्मविकास के इस पर्व के माध्यम से ही वास्तविक विकास की श्रेणी पर आरोहण किया जा सकता है। शायद ऐसा ही सोच कर तेरापंथ संघ में पर्युषण पर्व के उपरांत होने वाले क्षमायाचना (मैत्री दिवस) पर्व के बाद 'विकास महोत्सव' मनाने की परंपरा विगत वर्षों से शुरू की गई है।

कषाय शमन का पर्व

पर्युषण पर्व कषाय शमन की प्रेरणा देता है। कषाय व्यक्ति का स्वभाव नहीं, विभाव है। विभाव ही आत्मा को विकृत कर उसे अपने लक्ष्य तक पहुंचने से रोकता है। इसलिए यह पर्व मन को इतना निर्मल बनाने में सहायक हो सकता है कि फिर कभी कषाय रूपी रज का

स्पर्श ही न हो पाए। तभी हम आत्मा की उज्ज्वल धारा में निमज्जन कर सकते हैं, तभी हम अपनी निर्मल भावना से कषायों का क्षय कर सकते हैं। पर्युषण पर्व पर हम केवल बाह्य संयम ही नहीं, अपितु कषायों का संयम, इंद्रिय-संयम, राग-द्वेष का संयम करना भी सीख सकते हैं। संयम इतना प्रगाढ़ हो जाए, कि हमारी संयम की यात्रा चरैवेति-चरैवेति चलती ही रहे। मंजिल तक पहुंच कर यही यात्रा तब अनंत आनंद में समा सकती है।

विकास का पर्व

हम अपने जीवन में भौतिक ऊंचाई के साथ-साथ आत्मा की ऊंचाई और गहराई को मापना भी सीखें। यदि व्यक्ति जीवन में विकास करना चाहता है, तो उसे सबसे पहले संयम, समता, सचाई, विश्वास, नैतिकता, आस्था और पुरुषार्थ का सम्यक् विकास करना होगा। हम अपनी वृत्तियों को स्वाध्याय के द्वारा सुसंस्कारी बना सकते हैं। हम सभी जानते हैं कि पर्युषण पर्व अंतरंग की दूषित परतों को खोलने का पर्व है, उन परतों को उतार डालने का पर्व है—जो आत्मा पर आवरण की तरह बनी हुई हैं। उन दीवारों को गिराने का पर्व है, जो आत्मविकास की राह में बाधक बनी हुई हैं। सचाई की राह में दूरी बना रही उस खाई को पाटने और मंजिल तक पहुंचने में अवरोध बने हुए तत्त्वों को अस्तित्वहीन करने का पर्व है। आत्मविकास के इस पर्व के माध्यम से ही वास्तविक विकास की श्रेणी पर आरोहण किया जा सकता है। शायद ऐसा ही सोच कर तेरापंथ संघ में पर्युषण पर्व के उपरांत होने वाले क्षमायाचना (मैत्री दिवस) पर्व के बाद 'विकास महोत्सव' मनाने की परंपरा विगत वर्षों से शुरू की गई है। इसीलिए पर्युषण के तुरंत बाद विकास महोत्सव संपन्न होता है।

अध्यात्म का महापर्व

भारतीय संस्कृति में अनेक पर्व, त्योहार मनाए जाते हैं, परंतु जैन धर्म का यह आध्यात्मिक महापर्व आमोद-प्रमोद का, रंग-बिरंगे वस्त्र पहनने का और पकवान-मिष्टान्न खाने का पर्व नहीं है। इस महापर्व का उद्देश्य आत्मविशुद्धि है। यह संयम, त्याग और आत्म-चेतना को विकसित करने का महान अवसर देता है। यह पर्व आत्मा को परमात्मा बनाने का, राग पर विराग की विजय का तथा अंधकार से प्रकाश की ओर बढ़ने का महापर्व है। पर्युषण पर व्यक्ति पदार्थकेंद्रित नहीं, आत्मकेंद्रित होता है। इसलिए यह पर्व एक महापर्व की व्यापकता को प्राप्त करता है।

मैत्री का पर्व

सभी जानते हैं कि हर व्यक्ति वीतराग नहीं बन सकता। जब तक वीतराग अवस्था प्राप्त नहीं हो जाती, तब तक आदमी भूलें करता ही रहता है। व्यक्ति चाहे-अनचाहे वैर-भाव का अनुबंध भी कर ही लेता है। पर्युषण पर्व क्षमा के आदान-प्रदान का अद्वितीय पर्व है, ग्रंथि विमोचन का अवसर है। व्यक्ति जाने-अनजाने में वैर की गांठों को खोल कर आत्मविशुद्धि की ओर बढ़ता है तथा अपने आपको न केवल तन से, अपितु कर्म-ग्रंथियों से भी हलका महसूस करता है। इस अवसर पर यदि केवल औपचारिक क्षमायाचना होती है, तो उसे उपयुक्त नहीं कहा जा सकता। बल्कि, होना तो यह चाहिए कि क्षमा के लिए हृदय बोले, भावनाएं बदलें।

इस अवसर पर जो व्यक्ति विरोध की भावनाएं बनाए रखता है, जैन-दर्शन के अनुसार वह व्यक्ति सम्यक्त्व से च्युत हो जाता है। कितने आह्लाद का क्षण होता है, जब व्यक्ति खमत-खामणा के विराट सूत्र को आत्मसात करता है, सब जीवों को क्षमा देता है और क्षमा लेता है। सह-अस्तित्व और समभाव का यह सूत्र जैन-दर्शन की व्यापकता को उजागर करता है। क्षमा दिवस को राष्ट्रीय स्तर पर विश्व मैत्री दिवस के रूप में मनाया जाना चाहिए। इससे निश्चय ही अहिंसा, करुणा एवं मैत्री का वातावरण बनेगा।

अवलोकन का पर्व

यह कैसी विडंबना है कि व्यक्ति विश्व भर की जानकारी तो रखता है, पर स्वयं के बारे में बहुत कम जानता है। दूसरों की गलतियों को तो देखता है, पर स्वयं की कमियों को नजरंदाज कर देता है। पर्युषण पर्व ही हमें यह अवसर देता है कि हम लेखा-जोखा करें कि हमने पूरे वर्ष-काल में क्या खोया, क्या पाया। हम याद करें उन क्षणों को जिनके कारण जीवन दूषित रहा। हम अतीत से

प्रेरणा लें तथा संकल्प करें कि अतीत की भूलें पुनः जीवित न हो पाएं।

यह पर्व प्रतिक्रमण के अनुष्ठान का समय है। हम आत्मनिरीक्षण, परीक्षण और समीक्षण करें। अतीत को देखें। वर्तमान में जीते हुए वर्तमान का मूल्य परखें एवं भविष्य की सुखद शुरुआत करें। आत्मावलोकन का यह महान क्षण आत्म-ऊर्ध्वारोहण की दिशा में उठाया हुआ कदम होता है, जो अपनी मंजिल तक पहुंच कर ही विराम लेता है।

हम सदियों से पर्युषण पर्व को मनाते आ रहे हैं। आत्मविशुद्धि के इस महान पर्व को हम जीवंतता के साथ मनाएं, तभी इस पर्व की एवं हमारे जीवन की सार्थकता सिद्ध हो सकती है।

❖

घर-परिवार और मित्र-परिजनों के यहां खुशी के अवसरों पर **'जैन भारती'** उपहार के रूप में एक वर्ष, तीन वर्ष या दस वर्ष तक भिजवाकर आप आध्यात्मिक-नैतिक मूल्यों के विकास में योगदान दे सकते हैं। जन्म-दिन का उपहार हो या कोई अन्य अवसर, **'जैन भारती'** अनुपम उपहार के रूप में भेंट के लिए हमें लिखें। आपकी ओर से हम यह कार्य करेंगे।

जैन भारती

एक संपूर्ण पत्रिका है।

वैचारिक उन्मेष और परिष्कृत रंजन के लिए

जैन भारती

पढ़ें—सबको पढ़ाएं

व्यवस्थापक

जैन भारती

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा

तेरापंथ भवन

महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401

आचार्यश्री भिक्षु : अठारहवीं सदी के प्रखर जैनाचार्य

※ मुनि राजकुमार ※

नदी की तपती सूखी रेत में तपोयोग की विशिष्ट साधना (आतापना) में अपने आपको समर्पित करने वाले आचार्यश्री भिक्षु ने जहां मर्मांतक गालियों की बौछार को अमृत की मधुरस धारा में बदल दिया, वहीं ठोलों और घूसों की मार को भी सफलता की अनुपम सौगात मान कर अविरल आगे बढ़ते रहे और धीरे-धीरे जब लोगों ने 'तत्त्व' को समझा तो भ्रांतियों के बादल स्वतः छंट गए। तब सत्य का सूरज भी स्वतः ही चमकने लगा। तब आचार्यश्री भिक्षु के कदम जिस ओर भी बढ़े हजारों-हजारों चरण उसी ओर बढ़ चले। जिसकी कभी अपेक्षा नहीं की थी, धीरे-धीरे वह सब घटित होने लगा। तभी न चाहने पर भी एक धर्मसंघ का उदय भी हो गया, जो आज अपने विशाल और पवित्र आभा के साथ 'तेरापंथ' के नाम से पुकारा जाता है।

अब यह सर्वमान्य हो गया है कि तेरापंथ के आद्य प्रवर्तक आचार्यश्री भिक्षु अठारहवीं सदी के एक प्रखर जैनाचार्य माने जाने लगे हैं। आज यह भी सर्वमान्य है कि सफलता और महानता की युक्ति उनके जीवन में अपूर्व थी। बुद्धि, परिश्रम, पुरुषार्थ और सत्यनिष्ठा— ये सभी तत्त्व उनको सहज ही उपलब्ध थे। राजस्थान के कांठा में कंटालिया ग्राम को उनकी जन्म भूमि होने का गौरव प्राप्त है। भीखणजी का जन्म विक्रम संवत 1783, आषाढ़ शुक्ला त्रयोदशी का है। जोधपुर राज्य, जिसे अब जोधपुर संभाग कहा जाता है, कभी मारवाड़ नाम से अधिक प्रसिद्ध रहा है। उस समय वहां राठौड़ वंशी महाराजा अभयसिंहजी राज्य करते थे। मारवाड़ का दक्षिणी सीमांत कांठा क्षेत्र का ही एक अंग है। वहां के शासक ठाकुर बखतसिंहजी थे। वे भाटी राजपूत थे और अपने पूर्वज लाखाजी के नाम पर लखावत कहे जाते थे। कंटालिया उस समय काफी बड़ा ग्राम था। ओसवालों के वहां बहुत घर थे। भीखणजी के पिता का नाम शाह बल्लुजी और माता का नाम दीपा बाई था। उनकी जाति ओसवाल, वंश संकलेचा था।

वे ध्यानावस्था में बैठ गए। ध्यान मुद्रा में बैठे-बैठे ही अचानक स्वामीजी के आत्म-प्रदेश खिंचने लगे और शांतिपूर्वक देहमुक्त हो गए। साधु-समूह पास में ही बैठा था। विक्रम संवत 1860, भादवा सुदी तेरस, मंगलवार के दिन सात प्रहर का संथारा प्राप्त कर स्वामीजी सिरियारी में दिवंगत हो गए। स्वामीजी का जीवन एक सफल मनुष्य का जीवन था। जिस कार्य को स्वामीजी ने अपने हाथों में लिया, उसे पूर्ण करके ही छोड़ा। जैन शासन में वे एक प्रकाश बन कर आए और अपनी दीप्ति के द्वारा जन-जन को सन्मार्ग दिखा कर चले गए। भाद्रपद शुक्ला त्रयोदशी का दिन आचार्यश्री भिक्षु का चरमोत्सव है।

आचार्यश्री भिक्षु के बचपन के दो नाम प्रसिद्ध थे—भिक्खण और भिक्खू। आगे चल कर इन्हीं नामों का परिमार्जन हुआ तथा 'भीखणजी' और 'भिक्षु' रूप में प्रचलित हो गए। भीखणजी के लिए एक विशेष शब्द का और प्रयोग होता है, उन्हें 'स्वामीजी' नाम से भी पुकारा जाने लगा। उनके प्रति श्रद्धा रखने वाले लोग प्रायः इसी शब्द का प्रयोग करते रहे हैं।

माना जाता है कि आचार्यश्री भिक्षु की बुद्धि प्रारंभ से ही 'उत्पातिया' थी। बचपन की एक घटना है—एक बार वे कार्यवश किसी दूसरे गांव में गए और एक अन्य ग्रामीण को भी साथ में ले गए। जब दोनों व्यक्ति अपना कार्य संपन्न कर वापस लौट रहे थे तो रास्ते में ही साथ वाले ग्रामीण के पांव डगमगाने लग गए। वह नसवार सूंघने का व्यसनी था। नसवार खत्म हो चुकी थी और उसके बिना उनका चल पाना उतना ही असंभव था, जितना कि पैरों के बिना। साथ वाले ग्रामीण भाई ने कहा—'भीखणजी! तंबाकू सूंघे बिना अब एक कदम भी चल पाना मुश्किल हो रहा है।'—स्वामीजी चाहते थे कि सूर्यास्त से पहले-पहले घर पहुंच जाएं। रात्रि हो जाने पर मार्ग में चोर-लुटेरों का भय रहता था। अपने साथी को जंगल में अकेला छोड़ कर जाना भी उचित नहीं था। उन्होंने कहा—'ठाकुर साहब! आप धीरे-धीरे चलिए, मैं आस-पास के खेतों में किसी के पास नसवार हो तो खोज कर लाता हूं।'—ठाकुर थोड़े आश्वस्त हुए। वे धीरे-धीरे चल पड़े। भीखणजी ने दो-चार खेतों में जाकर नसवार की खोज की, पर वह कहीं नहीं मिली। उन्होंने तब एक कंडे की बुकनी बनाई और उसकी पुड़िया ठाकुर के हाथ में थमाते हुए बोले—'ठाकुर साहब! कोई बहुत अच्छी नसवार तो नहीं है, साधारण-सी ही मिली है।'—ठाकुर तो निढाल ही हुए जा रहे थे, पर ज्यों ही पुड़िया को देखा कि मन हरा हो गया। ठाकुर ने पुड़िया को खोला और चिमटी भर सूंघ कर बोले—'ठीक ही है, भीखणजी! अच्छा काम चल जाएगा।'—नसवार न होते हुए भी नसवार के विश्वास ने ठाकुर के पैरों में गति भर दी। वे सूर्यास्त से पहले-पहले घर पहुंच गए। ऐसी तीक्ष्ण और औत्पातिक बुद्धि के धनी थे—भीखणजी।

भीखणजी का विवाह छोटी उम्र में ही हो गया था। उस समय की प्रथा को देखते हुए अनुमानतः बाल्यावस्था में ही विवाहित कर दिए गए। उनकी पत्नी का नाम सुगनीबाई था। वह बगड़ी के बांठिया परिवार की पुत्री थी। उनके एक पुत्री भी हुई, जो निंवावास के बाफना परिवार में ब्याही गई।

विवाह होने पर भी उनका जीवन वैराग्य भावना से ओत-प्रोत रहा। यह अच्छा सुयोग था कि भीखणजी की पत्नी भी धार्मिक विचारों वाली ही थी। पति-पत्नी दोनों में वैराग्य के अंकुर फूटे, किंतु नियति को ऐसा मान्य नहीं था। पत्नी का देहांत हो गया। तब भीखणजी अकेले ही दीक्षा लेने के लिए तैयार हुए, पर मां ने दीक्षा की अनुमति नहीं दी। भीखणजी के सिर से उनके पिता का साया बहुत जल्दी उठ गया था। जाहिर था कि इस सूरत में दीक्षा को मूर्तरूप देने के लिए मां दीपाबाई ही आज्ञा देने वाली थीं। दीपाबाई को कल्पना भी नहीं थी कि बेटा साधु बनेगा। उन्होंने कहा—'बेटा! तेरे पिता चल बसे, तेरी पत्नी भी चली गई। तेरा बड़ा भाई अलग रहने लगा है। हम मां-बेटे दो ही हैं और अगर तू साधु बन जाएगा, तो मैं क्या करूंगी? बेटा! तेरे जन्म के समय मैंने सिंह का सपना भी देखा था। मैंने सुना है कि सिंह के सपने से जन्म लेने वाला राजा बनता है, या कोई बड़ा आदमी बनता है। इसलिए मैं तुझे दीक्षा की आज्ञा नहीं दे सकती।'—भीखणजी के बार-बार आग्रह करने पर भी दीपाबाई दीक्षा की आज्ञा देने को राजी नहीं हुईं। तब भीखणजी आचार्य रुघनाथजी के पास गए। अपनी मां को समझाने के लिए वे उन्हें घर लेकर आए। उन्होंने दीपाबाई को समझाने का प्रयास किया। दीपाबाई ने सिंह के स्वप्न वाली बात दोहराई। आचार्य रुघनाथजी ने कहा—'भीखण साधु बन कर भी सिंह की तरह ही गूंजेगा।' समय की बात थी। विक्रम संवत 1808, मिगसर कृष्णा बारस (3 नवंबर, 1751) बगड़ी नगर के बाहर नदी के किनारे विशाल वटवृक्ष की छाया में आचार्य रुघनाथजी के पास भीखणजी ने दीक्षा ग्रहण की। अब वे मुनि भीखण कहलाने लगे।

आचार्य रुघनाथजी के पास मुनि भीखणजी काफी वर्ष रहे। इसी अवधि में वे राजनगर में श्रावकों को समझाने के लिए भी गए। मुनि भीखणजी अपने समय के प्रचेता मुनि थे। जैन आगम उनकी आस्था का केंद्र था। व्यवहार के

धरातल पर सत्य को जीना उनका लक्ष्य था। संत भीखणजी की दृष्टि पैनी थी और मेधा सूक्ष्मग्राही थी। आत्म कल्याण के लिए शुद्ध श्रद्धा और शुद्ध आचार अनिवार्य आवश्यकता होते हैं। संत भीखणजी ने अपने गुरु आचार्य रुघनाथजी को इस ओर आमुख करने के भरसक प्रयास किए, परंतु उनकी बात पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। विक्रम संवत 1815 के राजनगर चतुर्मास की समाप्ति से लेकर विक्रम संवत 1817 के चैत्र शुक्ला नवमी तक लगभग एक वर्ष और पौने पांच महीने बीत गए। उस अवधि में गुरु-शिष्य में परस्पर अनेक बार विचार-विमर्श हुआ, उत्तर-प्रत्युत्तर के रूप में भी चर्चाएं हुईं, पर सुधार की ओर एक चरण भी आगे बढ़ने के आसार दृष्टिगत नहीं हुए। तब स्वामीजी ने समझ लिया कि धार्मिक उत्क्रांति के लिए यहां अब किसी प्रकार की आशा करना व्यर्थ है। उन्होंने उपयुक्त समय का निर्धारण किया और तदनुसार विक्रम संवत 1817, चैत्र शुक्ला नवमी को आचार्य रुघनाथजी से अपना संबंध-विच्छेद कर लिया। मुनि टोकरजी, हरनाथजी, वीरभाणजी और भारमलजी—इन चार संतों ने भी उसी मार्ग का अनुसरण किया और संत भीखणजी के साथ आ गए। समग्र भारत में रामनवमी नाम से प्रख्यात यह दिन स्वामी भीखणजी के लिए आत्मविजय के पथ पर अभिनिष्क्रमण का पुनीत दिन बन गया।

स्वामीजी के संबंध-विच्छेद कर लेने के साथ ही विरोध और बहिष्कारों के रूप में विपत्तियों के पहाड़ खड़े हो गए। भीखणजी के प्रति असहयोग शुरू हो गया। इसी के चलते श्मशान में ठाकुर जेतसिंहजी की छतरियों में पहला पड़ाव हुआ। स्थान नहीं मिला तो श्मशान में रहना, अंधेरी-ओरी जैसे भयानक स्थान में पूरा चातुर्मास संपन्न कर देना—यह साबित करता है कि भय को जीतना और विरोधों के सामने कभी नहीं झुकना उनके चारित्रिक गुण थे। विक्रम संवत 1817 से लेकर विक्रम संवत 1831 तक पंद्रह वर्ष का जीवन आचार्यश्री भिक्षु के लिए संकटमय और संघर्षपूर्ण रहे। उन्हें पांच वर्ष तक तो पेट भर आहार-पानी नहीं मिला।

आचार्यश्री भिक्षु मेवाड़-मारवाड़-कांठा के गांवों को स्पर्श करते हुए सिरियारी पधारे। सिरियारी में स्वामीजी अपना संपूर्ण काम अपने ही हाथों से करते। गोचरी भी स्वयं करते और प्रतिक्रमण खड़े-खड़े करते। उनका पूरा जीवन अंतिम समय तक स्वस्थ रहा। सिरियारी की कच्ची हाट में स्वामीजी का प्रवास था, जहां हवा आने के लिए खिड़की तक नहीं थी। दो दिन की तपस्या के बाद सिरियारी की ही पक्की हाट में पहुंच कर स्वामीजी ने अनशन स्वीकार कर लिया। अनशन की खबर हवा की तरह सब जगह फैल गई। हजारों भाई-बहनों का तांता लग गया। डेढ़ प्रहर दिन चढ़ा होगा कि सबको आश्चर्य-चकित कर देने वाली एक घटना घटित हुई। स्वामीजी ने साधुओं को कहा—'साधु आ रहे हैं, उनके सामने जाओ, तीन साध्वियां भी आ रही हैं।'—स्वामीजी द्वारा कही हुई बात पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। माना गया कि स्वामीजी इस समय सचेत-अवस्था में नहीं हैं। स्वामीजी के इस कथन को एक मुहूर्त समय भी नहीं हुआ था कि दो साधु—मुनि वेणीरामजी और कुसालजी वहां पहुंचे। वे पाली से आए थे। एक मुहूर्त बाद तीन साध्वियां—बखतूजी, झूमाजी और डाहांजी भी खैरवा से पहुंचीं। आए हुए इन साधु-साध्वियों ने स्वामीजी को वंदना की। स्वामीजी ने हाथ के संकेत से सुख-पृच्छा की। मुनि वेणीरामजी से उनकी आंखों की गड़बड़ के बारे में साता पूछी। बोलने की शक्ति यद्यपि क्षीण हो गई थी, फिर भी सावधानी पूर्णरूप से बनी हुई थी। साधु-साध्वियों के इस आगमन से सब आश्चर्यचकित हो गए।

स्वामीजी लेटे हुए थे। बैठने की इच्छा होने पर साधुओं ने सहारा देकर उन्हें बिठाया। वे ध्यानावस्था में बैठ गए। ध्यान मुद्रा में बैठे-बैठे ही अचानक स्वामीजी के आत्म-प्रदेश खिंचने लगे और शांतिपूर्वक देहमुक्त हो गए। साधु-समूह पास में ही बैठा था। विक्रम संवत 1860, भादवा सुदी तेरस, मंगलवार के दिन सात प्रहर का संथारा प्राप्त कर स्वामीजी सिरियारी में दिवंगत हो गए।

स्वामीजी का जीवन एक सफल मनुष्य का जीवन था। जिस कार्य को स्वामीजी ने अपने हाथों में लिया, उसे पूर्ण करके ही छोड़ा। जैन शासन में वे एक प्रकाश बन कर आए और अपनी दीप्ति के द्वारा जन-जन को सन्मार्ग दिखा कर चले गए।

भाद्रपद शुक्ला त्रयोदशी का दिन आचार्यश्री भिक्षु का चरमोत्सव है। 209 वर्ष पहले, वे पार्थिव देह से मुक्त हो गए थे। इस साल भाद्रपद शुक्ला तेरस के दिन उनका 210वां चरमोत्सव है। ❖

तीन प्रेरक बालकथाएं

❊ कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' ❊

अब्दुल रहीम और बसंतराव एक ही नगर के रहने वाले थे। दोनों बचपन से ही एक स्कूल में पढ़े थे। अब दोनों बड़े हो गए थे और एक ही कारखाने में काम करते थे। दोनों के मन भी आपस में बड़े मिलते थे। दोनों में गहरी दोस्ती थी। दोनों एक-दूसरे के सुख-दुख में काम आते थे, पर एक मामले में दोनों की राय नहीं मिलती थी। अब्दुल रहीम पूरब था, तो बसंतराव पश्चिम। एकदम एक-दूसरे से दूर और उलटे।

अब्दुल रहीम हाथ का खर्चीला था और बसंतराव देख-भाल कर चलने वाला। कारखाने से दोनों को एक ही दिन वेतन मिलता था, पर वेतन के रुपए जेब में डाल कर अब्दुल रहीम तो दूसरे ही दिन बाजार जाता और शौक की एक-दो चीज खरीद ही लाता। ठीक इसके विपरीत बसंतराव दूसरे दिन बैंक जाता और महीने भर का खरचा मात्र रख कर, बचत के रुपए अपने हिसाब में बैंक में जमा कर देता।

यह बात ठीक है कि जो जमा नहीं करेगा, वह खरचेगा क्या? और, जो समय पड़ने पर खरचेगा नहीं, उसे जमा करने से भी क्या लाभ? तो जमा करना बड़ी बात है या खर्च करना? असल में बड़ी बात यह है कि हम समय पर जमा करना भी जानें और समय पर खर्च करना भी। •

साल फिर बीत गया और फिर परीक्षा हुई। जब परिणाम निकला तो राधामोहन को सौ में से तैंतीस नंबर मिले। वह मुश्किल से पास हो सका, पर यूसुफ को साठ और रामधन को सौ में से पैंसठ नंबर मिले। •

जिंदगी का न तो सही रास्ता यह है कि हम जब सफल हों—तो घमंड से फूल उठें और न सही रास्ता यह है कि जब हम असफल हों—तो घबरा जाएं, हिम्मत हार बैठें। सही रास्ता यह है कि थकान की घड़ियों में हिम्मत से काम लें और उठान की घड़ियों में थके-हारे की मदद करें। •

अब्दुल रहीम कपड़े तो बढ़िया पहनता ही था, अपना घर भी खूब सजा कर रखता था। बसंतराव सादा खाता, सादा रहता और सादा ही पहनता। बसंतराव जब भी अब्दुल रहीम के घर आता, वह उसे नई-नई चीजें दिखाता और कहता—'बसंत बाबू, घर इसका नाम है कि कोई देखे तो उसे अजायबघर मालूम पड़े।'

अब्दुल रहीम कभी बसंतराव के घर जाता, तो उसकी सादगी की खूब हंसी उड़ाता और उसे 'स्वामीजी' कह कर चिढ़ाता। बसंतराव कहता—'चल ठीक है, तू नवाब बना रह, मैं साधु ही भला। पर भाई, मेरी तो राय यही है कि आदमी को चार पैसे जमा करने चाहिए। यह क्या कि बीमार पड़ो, तो धर्मार्थ औषधालय जाना

पड़े और मर जाओ, तो कफन के लिए पड़ोसी चंदा करते फिरें।'

दोनों की जिंदगी के कई साल यों ही बीत गए। एक दिन वे नाव में बैठ कर कहीं जा रहे थे। साथ में बहुत-से दूसरे मुसाफिर भी थे। अचानक नाव में छेद हो गया और पानी भरने लगा। अब्दुल रहीम तो घबरा गया, पर बसंतराव ने धीरे से मल्लाह के कान में कहा—'तू तैर कर हमें बचा ले, मैं तुझे दो सौ रुपए दूंगा।'

मल्लाह के पास तंबेड़ थी। उसने दोनों को उस पर बैठा कर एक-एक कर पार उतार दिया। पार उतर कर बसंतराव ने कहा—'तू मुझे 'स्वामीजी' कह कर चिढ़ाता था, पर मैं यदि रुपए जमा न करता, तो आज दोनों कैसे बचते?'

थोड़ी देर अब्दुल रहीम सोचता रहा। फिर बोला—'बसंत भाई! जोड़ने से हम कहां बचे? हम तो दो सौ रुपए खर्च करके ही बचे हैं। तू अब भी नहीं मानता कि जोड़ने से बड़ी बात है खर्च करना।'—और वह खूब जोर से हंस दिया।

हंसना अब्दुल रहीम का स्वभाव ठहरा। वह इस मौके पर भी खूब हंसा।

इस कहानी से हमारे हाथ क्या बात लगी? यह बात ठीक है कि जो जमा नहीं करेगा, वह खरचेगा क्या? और, जो समय पड़ने पर खरचेगा नहीं, उसे जमा करने से भी क्या लाभ? तो जमा करना बड़ी बात है या खर्च करना? असल में बड़ी बात यह है कि हम समय पर जमा करना भी जानें और समय पर खर्च करना भी। सौ बातों की एक बात यह है कि जीवन का जितना बड़ा दोष फिजूलखर्ची है, उतना ही बड़ा दोष कंजूसी भी है। जो भरपूर आनंददाई जीवन चाहता है, उसे इन दोनों दोषों से बचना चाहिए।

2. होड़ करो : आगे बढ़ो

एक ही विद्यालय में पढ़ने वाले राधामोहन और यूसुफ के घर पास-पास ही थे। दोनों के घरवालों का भी एक-दूसरे के घर आना-जाना था। दोनों ही पढ़ने-लिखने में होशियार थे। उनके अध्यापक भी दूसरे लड़कों के सामने उनकी तारीफ करते थे। वर्ष के अंत में परीक्षा हुई, तो दोनों उत्तीर्ण हो गए। राधामोहन को सौ में से साठ नंबर मिले और यूसुफ को सौ में से पैंसठ। कोई खास फर्क न था, पर राधामोहन ने इसे बहुत महसूस किया।

बात यह हुई कि दोनों में इसी कारण खिंचाव पैदा हो गया, पर नंबरों की इस कमी में बेचारे यूसुफ का कोई दोष नहीं था। उसने कभी चाहा भी न था कि राधामोहन को मुझसे कम नंबर मिले। फिर भी राधामोहन उससे चिढ़ गया। वह स्कूल से यूसुफ के साथ नहीं लौटा। दूसरे रास्ते से निकल कर घर पहुंच गया।

छुट्टियों के बाद जब स्कूल खुला, तो राधामोहन 'क्लास' में यूसुफ से अलग बैठने लगा। राधामोहन में एक खास परिवर्तन यह भी हो गया था कि वह जहां बैठता, यूसुफ की बुराई ही करता।

साल बीत गया और फिर परीक्षा हुई। जब परिणाम निकला, तो यूसुफ को सौ में से तिरसठ नंबर मिले और राधामोहन को सौ में से पैंतालीस नंबर ही मिले। मतलब यह कि पहले साल तो राधामोहन को यूसुफ से पांच ही नंबर कम मिले थे, पर इस बार उसे अठारह नंबर कम मिले। राधामोहन की कुढ़न इससे और बढ़ गई। इसी के चलते उसने एक दिन यूसुफ की किताबें चुरा कर नाली में फेंक दीं और एक दिन उसके साथ मारपीट भी की। यूसुफ फिर भी शांत रहा।

छुट्टियों के बाद स्कूल फिर खुला। एक नया विद्यार्थी कक्षा में आया। नाम था—रामधन। रामधन सीधा-सादा था, पर होशियार भी था। उसने राधामोहन और यूसुफ की बातें भी सुनीं। एक दिन उसने राधामोहन से कहा—'इस साल तेरे भी पैंतालीस नंबर आए, और मेरे भी। पर, अब की बार मेरे नंबर यूसुफ से ज्यादा आएंगे और तुझे और भी कम नंबर मिलेंगे।'—ऐसा लगता है।

राधामोहन यूसुफ की तरह ही रामधन से भी कुढ़ने लगा। वह सबसे उसकी भी बुराई करता रहा, पर रामधन

अब यूसुफ के साथ बैठ कर पढ़ता, उसके साथ औरों की तरह खेलता, पर अपने पढ़ने में जरा भी कमी नहीं करता।

साल फिर बीत गया और फिर परीक्षा हुई। जब परिणाम निकला तो राधामोहन को सौ में से तैंतीस नंबर मिले। वह मुश्किल से पास हो सका, पर यूसुफ को साठ और रामधन को सौ में से पैंसठ नंबर मिले।

परिणाम सुन कर राधामोहन खिसकने लगा। तभी रामधन ने उसका हाथ पकड़ लिया और कहा—'तुम्हारा रास्ता ही गलत है। तुम दूसरे को गिराने की कोशिश तो करते हो, पर अपने को उठाने की कोशिश नहीं करते। तुम साल भर कुढ़ते रहे। इससे तुम्हारा ही नुकसान हुआ, यूसुफ का नहीं। पर, मैंने उससे ज्यादा मेहनत की और उससे ज्यादा नंबर पाए।'

सबने रामधन की तारीफ की और कहा—'यह ठीक नहीं है कि हम किसी की बढ़ती देख कर उससे कुढ़ें। ठीक यह है कि हम उससे होड़ करें और ईमानदारी के साथ मेहनत करके आगे निकलें।'

3. थके-हारे की मदद : रास्ता यह है

एक आदमी बहुत परेशान था। उसके शरीर को बीमारियों ने घेर रखा था। उसके पास अपने इलाज के पैसे भी नहीं थे। गरीबी इतनी थी कि खाना भी पूरा नहीं मिलता था।

फिर भी हिम्मत करके वह उठा और जैसे-तैसे एक बड़ी हवेली के सामने पहुंचा। यह हवेली एक ऐसे आदमी की थी, जिसका काफी बड़ा रोजगार था और जिसके पास सबकुछ था। उस परेशान आदमी ने जोर-जोर से पुकार मचाई और अपनी बीमारी और भूख का बखान भी किया।

उसकी पुकार सुन कर हवेली का मालिक बाहर आया और गुस्से से बोला—'भीख मांगते शर्म नहीं आती? तेरे हाथ-पैर हैं, कमा कर खा।'

परेशान आदमी ने कहा—'आपकी बात ठीक है, कमा कर खाने में ही आदमी की शोभा है, पर लंबी बीमारियों ने मुझे मजबूर कर दिया है। मैंने सारी उम्र अपने पसीने की कमाई खाई है, पर अब मैं विवश हो उठा हूं।'

हवेली के मालिक को करुणा के बदले और गुस्सा आया। उसने उसे बहुत बुरा-भला कहा, पर कहीं और जाकर सहायता मांगने की भी ताकत उस आदमी में नहीं थी। वह गिड़गिड़ा कर सहायता मांगता रहा। इस पर हवेली के मालिक को बहुत गुस्सा आया और उसने अपने नौकर को हुक्म दिया कि वह इस गंदे आदमी को धक्का देकर हवेली के सामने से हटा दे। नौकर ने ऐसा ही किया।

इस घटना को कई बरस बीत गए। इसी तरह किसी एक बड़ी हवेली के सामने फिर एक दूसरे आदमी ने रात के समय पुकार लगाई—'मैं भूखा और परेशान हूं। साहब, मेरी मदद करो।'—हवेली के मालिक ने अपने नौकर को बुला कर कहा—'देखो, कोई भूखा और परेशान आदमी मालूम होता है। उसे ढंग से बिठा कर खाना खिला दो। उसकी कोई और जरूरत हो तो वह भी पूरी कर दो।'

नौकर ने उसे प्रेम से बरामदे में बैठाया। उसकी जरूरत पूछी। उसने कहा—'मैं दो दिन से भूखा हूं। इस समय खाना ही मेरी सबसे बड़ी जरूरत है।'

नौकर ने उसे आदरपूर्वक भरपेट खाना खिलाया। खाना खिला कर नौकर हवेली में गया। मालिक ने देखा कि नौकर की आंखों में आंसू आ रहे हैं। मालिक ने पूछा—'क्या बात है, तू रो क्यों रहा है?'

नौकर ने कहा—'जिसे आपने खाना खिलाया है, कुछ साल पहले यही व्यक्ति बड़ी हवेली वाला हुआ करता था। अपने शहर के बड़े आदमियों में गिना जाता था। उन दिनों मैं भी इनके ही पास नौकर था। आज इसे दर-दर का भिखारी देख कर मेरी आंखों में आंसू भर आए और कोई बात नहीं है।'

मालिक ने कहा—'तूने उसे पहचान लिया, पर मुझे नहीं पहचाना। देख, मेरी तरफ देख। मैं भी वही

भूखा और बीमार व्यक्ति हूं, जो उस दिन इसके दरवाजे पर मदद मांगने गया था और इसके हुक्म से तूने मुझे धक्का देकर निकाल दिया था।'

कहानी पूरी हो गई, पर हम सब को यह सबक सिखला गई कि जिंदगी का न तो सही रास्ता यह है कि हम जब सफल हों—तो घमंड से फूल उठें और न सही रास्ता यह है कि जब हम असफल हों—तो घबरा जाएं, हिम्मत हार बैठें। सही रास्ता यह है कि थकान की घड़ियों में हिम्मत से काम लें और उठान की घड़ियों में थके-हारे की मदद करें। ❖

रचनाकारों से

जैन भारती में नैतिक–आध्यात्मिक स्तर के विचार–प्रधान व विश्लेषणात्मक लेखों और मौलिक कहानियों–कविताओं का स्वागत है, प्रकाशित–प्रसारित रचनाओं का उपयोग करना संभव नहीं होगा

अपनी रचनाएं कागज के एक तरफ साफ–साफ टाइप की हुई भेजें
हाथ से लिखी हुई रचनाएं भी कागज के एक ओर ही लिखी हों

लिखावट साफ–सुथरी, बिना काट–छांट के होनी चाहिए
कागज के एक ओर पर्याप्त हाशिया अवश्य छोड़ें

जीवन परिचय, व्यक्तित्व व कृतित्व पर लिखे गए लेख सीधे नहीं भेजें
ऐसे लेख हमारे मांगने पर ही लिखें व भेजें तो बेहतर होगा

समसामयिक विषयों पर विचारात्मक टिप्पणियों का भी हम स्वागत करेंगे
ऐसे लेख भी नैतिक–आध्यात्मिक स्तर के हों और विश्लेषणात्मक हों तो बेहतर होगा

महिलाओं, किशोरों और बाल–मन पर
आधारित रचनाओं का हम स्वागत करेंगे

आप चाहें तो कहानी–कविता
भी भेज सकते हैं

अप्रकाशित रचनाएं लौटाना अथवा इस बारे में
पत्र–व्यवहार करना संभव नहीं होगा

बेहतर हो, भेजी गई रचना की एक प्रति रचनाकार
पहले से ही अपने पास रखें

बिनोदकुमार चोरड़िया, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1 के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं प्रेषित और सांखला प्रिंटर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।

SKF

Authorized
Stockist

Manish Enterprises

Authorised Stockist : SKF Bearings

Sales & Admin. Off.
20, Netaji Subhash Road
(Gr. Floor) Kolkata 700001

Phone : 22102413, Telefax : 22102414, Mobile : 98300 65260

E-mail : manish.brg@gmail.com
Website : www.manishenterprises.net

Amar Chand Bardia
Sushil Kumar Bardia
Manish Bardia

जैन भारती, अगस्त, 2012 ■ प्रेषण दिनांक 28 जुलाई, 2012
भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पंजीयन संख्या : बीकानेर/048/2012-2014

शासनसेवी बुद्धमल दुगड़
सुरेन्द्रकुमार, तुलसीकुमार, कमलकुमार दुगड़
(कल्याण मित्र दुगड़ परिवार)

के.बी.डी. फाउण्डेशन
बुद्धमल सुरेन्द्र दुगड़ फाउण्डेशन
बुद्धमल तुलसी दुगड़ फाउण्डेशन
बीएमडी कमल दुगड़ फाउण्डेशन

201/504, वैष्णो चेंबर, 6, बेब्रॉर्न रोड, कोलकाता 700001
फोन : 22254103/4889

प्रेषक : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401 • फोन : 0151-2270779

नोट : आपके पते में कोई कमी, अशुद्धि या पिन-कोड नहीं हो तो कृपया सूचित करें। ग्राहक संख्या अवश्य लिखें।